शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६५ ☆ वर्ष २० वाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ९

उन ज्ञानी के चरण में....

★

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन ही धर्मात्मा का परिणमन है। राग, वह धर्मात्मा का परिणमन नहीं है; वह तो धर्मात्मा को परज्ञेयरूप है। जिसप्रकार स्तंभ आदि ज्ञान से भिन्न पर ज्ञेयरूप हैं, उसीप्रकार राग भी ज्ञान से भिन्न परज्ञेयरूप है। इसप्रकार राग से भिन्न ऐसे ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप परिणमन द्वारा ज्ञानी को पहिचाना जाता है, राग द्वारा ज्ञानी को नहीं जाना जाता। राग होने पर भी उनकी दशा रागातीत वर्तती है।

जिसप्रकार—देह तदपि जिनकी दशा वर्ते देहातीत...
उसीप्रकार—राग पदपि जिनकी दशा वर्ते रागातीत
उन ज्ञानी के चरण में हो वंदन अगणित।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२३७]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

देशव्रतोद्योतनम् (दूसरी आवृत्ति सचित्र)

श्री पद्मनदी पंचविंशतिका के देशव्रतोद्यतन नामक अधिकार पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन, हिन्दी अनु० श्री बंशीधरजी शास्त्र एम०ए०, प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, ५५ नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता, पृष्ठ संख्या ७८, मूल्य ०.५०, पोस्टेज २५ पैसे, श्रावक को तत्त्वज्ञान सहित षट्कर्मों को प्रतिदिन करने के विषय में, आप इस पुस्तिका को अवश्य पढ़ें इसमें उत्तम भक्तिमय प्रसंग के पाँच चित्र हैं। जो देखते ही बनता है।

(१) जिन प्रतिमा अंकन्यास विधि, (२) दक्षिण तीर्थ श्री बाहुबली चरणाभिषेक, (३) पोन्नूर क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य के चरणों की पूजा, आदि।

★

श्री समयसार कलश टीका

(पंडित श्री राजमल्लजी कृत)

हस्तलिखित प्रतियों से बराबर मिलान करके आधुनिक राष्ट्रभाषा में, सुंदर ढंग से, बड़े टाइप में उत्तम प्रकाशन:—

आत्महित का जिसको प्रयोजन हो उनके लिये गूढ़ तत्त्वज्ञान के मर्म को अत्यंत स्पष्टतया खोलकर स्वानुभूतिमय उपाय को बतानेवाला यह ग्रंथ अनुपम ज्ञान निधि है। पंडित श्री राजमलजी (विक्रम संवत् १६१५) पूर्वाचार्यों के कथनानुसार आध्यात्मिक पवित्र विद्या के चमत्कारमय यह टीका बनाई है। लागत मूल्य ५) होने पर घटाया हुआ मूल्य २) पोस्टेज १.४५

पता—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६५ ☆ वर्ष २० वाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९१ ☆ अंक : ९

'मोक्षमार्गप्रकाशक' के प्रवचनों से

मोक्षमार्गप्रकाशक में श्री पंडित टोडरमलजी ने अनेक प्रकार से तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया है। पूज्य स्वामीजी को वह ग्रंथ अत्यंत प्रिय है; सम्यक्त्व संबंधी प्रवृत्ति में जीव कैसी भूल करता है—आदि संबंधी स्पष्टीकरण यहाँ दिया जा रहा है।

अज्ञानी अपने को सिद्ध समान शुद्ध चिंतवन करना चाहता है—उसमें उसकी क्या भूल है ?

पर्याय को द्रव्य के साथ एकाकार करके शुद्धता प्रगट किये बिना, मात्र द्रव्य की शुद्धता का चिंतन करना तो विकल्प मात्र ही है; 'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसा विकल्प करता रहे तो उससे कहीं शुद्धता का अनुभव नहीं होता; अज्ञानी उस विकल्प को ही शुद्धता का अनुभव मान लेता है, वह उसकी भूल है। और पर्याय में शुद्धता या अशुद्धता किसप्रकार है, उसे जाने बिना आत्मा का सच्चा स्वरूप चिंतन में आता ही नहीं। द्रव्योन्मुख होने से पर्याय में शुद्धता प्रगट हो, उसका नाम शुद्धता है। पर्याय में मिथ्यात्व हो और कहे कि—'मैं शुद्ध सिद्धसमान आत्मा का चिंतवन करता हूँ'—तो उसकी वह बात कल्पना मात्र ही है। शुद्ध आत्मा का चिंतन करे और पर्याय में शुद्धता प्रगट न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। पर्याय में शुद्धता न होने पर भी शुद्धता मान लेना, वह तो मिथ्यात्व ही है। पर्याय में

शुद्धता हुए बिना द्रव्य की शुद्धता का स्वीकार या अनुभव किसप्रकार किया? इसलिये पर्याय में शुद्धता प्रगट हुए बिना शुद्ध आत्मा का चिंतन यथार्थ नहीं होता। अकेली शक्ति कहीं वेदन नहीं है, वेदनरूप तो वर्तमान पर्याय है।

शास्त्र में तो शुद्धात्मा के चिंतन का उपदेश दिया है?

स्वभावोन्मुख होने से पर्याय भी निर्मल होकर उसमें एकाकार हो गई, इसप्रकार शुद्धपर्याय-सहित द्रव्य को शुद्ध आत्मा कहा है। निर्मल अनुभूति प्रगट हुई, तब शुद्धात्मा का अनुभव कहा। पर्याय में अकेली अशुद्धता हो और कहे कि हम शुद्धात्मा का चिंतवन करते हैं, तो वह भ्रम है। पर्याय में शुद्धता प्रगट हुए बिना शुद्धात्मा का चिंतन नहीं हो सकता। पूर्ण शक्ति से भरपूर जो शुद्ध कारणपरमात्मा, उसका ध्यान करने से पर्याय में शुद्ध कार्य (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट न हो, ऐसा नहीं हो सकता। पर्याय में शुद्धता प्रगट न हुई हो और मान ले कि शुद्धता हो गई, अशुद्धता है ही नहीं, तो वह जीव भ्रमणा में है; उसका शुद्धात्मा का चिंतन भी कल्पनामात्र ही है। अपने द्रव्य और पर्याय दोनों को ज्यों का त्यों जानना चाहिये, तभी सम्यग्ज्ञान होता है। पर्याय में अशुद्धता होने पर भी उसे शुद्धता मान ले, अज्ञान होने पर भी अपने को केवलज्ञान मान ले तो महान विपरीतता हो; इसलिये द्रव्य और पर्याय दोनों को ज्यों का त्यों धारण करना चाहिये। स्वभावसामर्थ्य से आत्मा को शुद्धपना है और जब उस स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा उपासना की जाये, तब आत्मा को पर्याय में शुद्धपना होता है। उससे पूर्व आत्मा को अशुद्धपना है। यदि अशुद्धपने में ही शुद्धपना मान ले, तब तो आत्मा की उपासना करना ही कहाँ रहा? अशुद्धता में शुद्धता का चिंतवन करे, तब तो ज्ञान मिथ्या हुआ। शुद्धता कैसे प्रगट हो और रागादिक अशुद्धता कैसे टले-उसका तो जिसे विचार नहीं है और मात्र शुद्ध चिंतन की बात करता है, वह जीव निश्चयाभासी है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मोक्षमार्ग में क्या क्रिया है?

सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-आचरण करना और रागादिक मिटाना, सो मोक्षमार्ग की क्रिया है। ऐसे सम्यक् श्रद्धा आदि होने का तथा रागादिक मिटाने का उपाय तो जो नहीं करता, उनके साधनरूप शास्त्राभ्यास आदि का भी निषेध करता है, वह तो स्वच्छंदी-प्रमादी ही होता है।

सत्य का अवलोकन किसप्रकार होता है?

द्रव्य और पर्याय दोनों को जिसप्रकार हों, उसीप्रकार जानना; शुद्धता-अशुद्धता दोनों को जानना; शुद्धता को शुद्धता जानना और अशुद्धता को अशुद्धता जानना, उसका नाम सत्य

अवलोकन है। अशुद्धता को शुद्धता मान ले तो सत्य अवलोकन नहीं होता; और पर्याय में अशुद्धता देखकर संपूर्ण आत्मा को वैसा ही मान ले तथा शुद्धस्वभाव को न जाने तो भी सत्य अवलोकन नहीं होता। द्रव्य-पर्याय दोनों को यथावत् जाने तभी सत्य अवलोकन होता है।

द्रव्य-पर्याय दोनों का सत्य अवलोकन करनेवाले की श्रद्धा कैसी होती है ?

मेरी पर्याय में जो रागादि अशुद्धता है, वह छोड़ने योग्य है—ऐसी उसे श्रद्धा होती है। रागादि को अपने में होता न जाने तो उन्हें छोड़ने का श्रद्धान कहाँ से करे ? द्रव्यस्वभाव की शक्ति शुद्ध है और उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है, वह उपादेय है—ऐसी श्रद्धा धर्मी को होती है और जो अशुद्धता है, वह छोड़ने योग्य है—ऐसी श्रद्धा होती है। जिससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो और रागादिक मिटें, वही जैनधर्म का उपदेश है, वही मोक्ष का उपाय है।

हमें तो शुद्धात्मा के अनुभव का ही प्रयोजन है, इसलिये शास्त्राभ्यास किसलिये करें ? शास्त्राभ्यास में तो विकल्प होता है ?

अरे भाई ! शास्त्र के अभ्यास को तो तू विकल्प कहकर उसे निरर्थक बतलाता है और अन्यत्र विषय-कषायादि में तू अपना उपयोग लगाता है—यह तो तेरी विपरीत दृष्टि है। मुनिवर भी चैतन्यध्यान में निर्विकल्परूप से सदा नहीं रह सकते, इसलिये वे भी शास्त्राभ्यास में उपयोग लगाकर ज्ञानादि की निर्मलता बढ़ाते हैं; और तू उसे निरर्थक कहकर छोड़ता है, तो उसमें तेरा स्वच्छंद है। शास्त्र तो वीतरागभाव के पोषणका ही उपदेश देते हैं; उसे निरर्थक मानकर तू अन्यत्र राग का पोषण करता है। यदि निर्विकल्प चैतन्यध्यान में स्थिर रहा जाता हो, तब तो अन्य कोई विकल्प करने योग्य नहीं हैं—यह ठीक है; किंतु अन्य विकल्पों में तो उत्साहपूर्वक वर्ते और शास्त्राभ्यास की बात आये, वहाँ उसे विकल्प कहकर निषेध करे तो उसमें स्वच्छंद है। तीर्थंकर भगवान आदि के पुराण, गुणस्थानादि का वर्णन, आचरण का वर्णन या अध्यात्म का वर्णन—चारों अनुयोग के वर्णन में वीतरागता की पुष्टि का ही अभिप्राय है; उन शास्त्रों के अभ्यास से श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को पोषण मिलता है; उसमें उपयोग लगाने से श्रद्धा-ज्ञान की दृढ़ता और कषायों की मंदता होती है। कैसे-कैसे जीवों ने कैसे प्रसंगों में कैसी आराधना की—इत्यादि वर्णन में उपयोग लगाने से अपने को आराधना की दृढ़ता होती है और मोक्षमार्ग का उत्साह जागृत होता है। इसलिये अपनी शक्ति अनुसार शास्त्राभ्यास करना योग्य है। शास्त्राभ्यास की अरुचि करके उसका निषेध करे, तब तो उसे अध्यात्म की रुचि भी सच्ची नहीं है। जिसे जिसका प्रेम हो, वह (१) उसकी कथा

रुचिपूर्वक सुनता है, (२) उसके विशेष प्रकार जानता है, (३) उसके आचरण के साधन जानता है और (४) उसका स्वरूप जानता है—उसमें उसे उत्साह होता है, आलस्य नहीं होता। उसीप्रकार जिसे आत्मरुचि हुई है—मोक्षमार्ग साधने का प्रेम जागृत हुआ है, वह जीव (१) वैसे आत्म-रुचिवान और मोक्षमार्ग के साधक तीर्थंकरों आदि की कथा प्रेमपूर्वक सुनता है; (२) आत्मा के विशेष प्रकार-गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का भी अभ्यास करता है, (३) महापुरुषों ने कैसे आचरण किये, वह भी जानता है—व्रतादि का स्वरूप जानता है, तथा (४) आत्मा के अनुभव का वर्णन आदि अध्यात्मशास्त्रों को भी जानता है।—इसप्रकार चारों अनुयोगों का अभ्यास कार्यकारी है। इसलिये अध्यात्मशास्त्र ही पढ़ना चाहिये और करणानुयोग, कथानुयोग आदि के शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिये—ऐसा निषेध करना योग्य नहीं है।

आत्मस्वरूप के अनुभव में से बाहर निकलकर जो बुद्धि परद्रव्य में भटकती है, उसे तो पद्मनंदि पच्चीसी में व्यभिचारिणी बुद्धि कही है, तो शास्त्राभ्यास में उपयोग किसलिये लगायें ?

भाई, आत्मा का उपयोग आत्मा में ही रहे, वही उत्तम है और आत्मा में से हटकर परद्रव्य में भटके तो वह दूषित है—यह बात तो सच्ची; परंतु जब स्वरूप में उपयोग लीन न रह सके और परद्रव्य में जाये, तब अन्य अशुभ विषय-कषायों की अपेक्षा तो वीतरागी शास्त्र के अभ्यास में उपयोग लगाना वह अच्छा है। इसलिये अन्य बाह्य विषयों के पाप में उपयोग लगाने की अपेक्षा शास्त्राभ्यास में बुद्धि लगाना योग्य है। गणधर और महामुनि भी चैतन्य के ध्यान में निरंतर नहीं रह सकते, तब शास्त्रस्वाध्याय, दिव्यध्वनि का श्रवण आदि में वर्तते हैं, और तू उसका निषेध करता है तो क्या तू महामुनियों से भी आगे बढ़ गया!!—शास्त्राभ्यास को विकल्प कहकर निरर्थक कहना और अन्य विषयकषायों में वर्तना, वह तो निश्चयभासी जीव की स्वच्छंदता ही है।

हमें तो अकेले आत्मज्ञान का ही काम है, अन्य तत्त्वों को जानने का क्या काम है ?

अरे भाई, मात्र आत्मा-आत्मा रटने से तो मोक्षमार्ग नहीं होगा; किंतु आत्मा क्या है, उसकी पर्याय क्या है, उसमें शुद्धता-अशुद्धता के प्रकार कैसे हैं, जीव से भिन्न अजीव क्या है ? मोक्षमार्ग क्या है ? मोक्षमार्ग को रोकनेवाला कौन है ? उसके ज्ञान बिना आत्मज्ञान भी सच्चा नहीं होता और मोक्षमार्ग की साधना नहीं हो सकती। आत्मा-आत्मा करता रहे और अन्य तत्त्वों को जानने का निषेध करे, तत्त्वार्थश्रद्धान ही कहाँ से होगा ? आत्मा को सुखदायक ऐसे संवर-निर्जरा क्या हैं और आत्मा को दु:खदायक आस्रव-बंध क्या है ? उन्हें जाने बिना मोक्षमार्ग की साधना नहीं हो सकती।

किन कारणों से कर्म के आस्रव-बंध होते हैं और किस कारण से कर्म का अभाव होता है, उसे जानना चाहिये। बंध-मोक्ष के कारणों को बराबर जाने, तभी बंध के कारणरूप रागादि को दूर करने का और मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनादि प्रगट करने का उद्यम करे। इसलिये आत्मा के अतिरिक्त अन्य तत्त्व संवर, निर्जरा, आस्रव, बंध आदि भी जानना चाहिये।

यह तो ठीक है, किंतु त्रिलोकादि का वर्णन जानने में क्या प्रयोजन है ?

त्रिलोकादि का वर्णन जानना भी कहीं राग की वृद्धि का कारण नहीं है, किंतु उल्टा राग घटने का ही कारण है। पुण्य-पाप के फल के स्थानरूप स्वर्ग-नरकादि को जानने से जीव वैराग्य प्राप्त करता है, और पापभाव छोड़कर पुण्य-कार्य में वर्तता है। और सर्वज्ञदेव कथित तत्त्व जानने से सर्वज्ञता की भी विशेष महिमा आती है। इसलिये तीन लोक का तथा जीवों की गति-अगति का स्वरूप बतलानेवाले शास्त्रों का अभ्यास भी निषेध करनेयोग्य नहीं है।

प्रयोजनभूत अल्प जानना ही कार्यकारी है तो फिर अधिक जानने के विकल्प किसलिये करें ?

अरे भाई, संसार का अन्य सब अधिक जानने में तो तू उपयोग लगाता है और यहाँ विशेष शास्त्राभ्यास को विकल्प कहकर उसका निषेध करता है, वह योग्य नहीं है। जिस जीव की शक्ति कम हो और विशेष शास्त्राभ्यास जितनी बुद्धि न हो, उसके लिये यह उपदेश है कि थोड़ा भी प्रयोजनभूत जानना कार्यकारी है। दूसरा कुछ आये या न आये किंतु स्वभाव क्या और विभाव क्या ? इतना प्रयोजनभूत जाने, तब भी अपना कार्य साध सकता है। और ऐसा जीव कुछ विशेष शास्त्राभ्यास का निषेध नहीं करता। अथवा जो जीव अकेले अप्रयोजनभूत तत्त्वों को ही जानने में रुकता है और भेदज्ञान की दरकार नहीं करता तो ऐसे जीव के लिये उपदेश है कि प्रयोजनभूत तत्त्व के ज्ञान बिना तेरा अन्य सब ज्ञातृत्व कुछ कार्यकारी नहीं है। परंतु प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने के उपरांत जिसकी विशेष बुद्धि हो, वह विशेष अभ्यास से गुणस्थान-मार्गणास्थान-जीवस्थान तथा तीन लोक आदि का वर्णन जानने में उपयोग लगाये, वह यथार्थ ही है, उसमें ज्ञानादि की निर्मलता होती है और रागादि कम होते हैं।

प्रश्न - शास्त्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि को बंधन नहीं होता, इसलिये हमारी प्रवृत्ति चाहे जैसी हो - उसमें क्या आपत्ति ?

उत्तर -अरे भाई, तुझे सम्यग्दृष्टि की दशा की खबर नहीं है। सम्यग्दृष्टि को बंधन नहीं

होता—ऐसा शास्त्र में कहा है न!—यह तो ठीक है, किंतु तेरी परिणति में वह बात कहाँ आयी है? तेरी परिणति में अबंधपना तो आया नहीं है। अपने आप विचार करके तूने ऐसा मान लिया है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और मुझे बंधन नहीं होता—यह तो तेरी स्वच्छंद कल्पना है। सम्यग्दृष्टि तो स्व-पर को भिन्न जानता है, इसलिये अत्यंत वैराग्यवान होता है, वह सम्यग्दृष्टि का चिह्न है; वह नियम से ज्ञान-वैराग्य शक्ति सहित होता है। मैं सम्यग्दृष्टि हूँ—ऐसे मिथ्या अभिमान में चूर होकर वर्तन करे और वैराग्य का ठिकाना न हो—ऐसे जीवों को तो पापी कहा है। स्वयं बुद्धिपूर्वक पाप परिणाम में वर्ते और कहे कि—मुझे बंधन नहीं है तो वह महान स्वच्छंद है। सम्यग्दृष्टि भी अशुभ परिणामों को पाप समझता है और उन्हें बुरा जानकर छोड़ने का उद्यम करता है।

प्रश्न - शास्त्र में तो शुभ-अशुभ दोनों को समान कहा है न?

उत्तर - भाई, अशुद्धोपयोग की अपेक्षा से शुभाशुभ को समान कहकर, उन दोनों को छोड़कर शुद्धोपयोग का उपदेश दिया है; इसलिये उन दोनों को छोड़कर शुद्धोपयोगरूप वर्तन करना, वह तो ठीक है; परंतु जिसे ऐसा शुद्धोपयोग न हो, उसे शुभ छोड़कर अशुभ में प्रवर्तन करना—ऐसा कहीं उस उपदेश का हेतु नहीं है। हैं तो शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध और हेय, परंतु शुभ की अपेक्षा अशुभ में तीव्र अशुद्धता है, इसलिये उसे प्रथम ही छोड़ना योग्य है। जो शुभ को भी हेय जाने, वह अशुभ में स्वच्छंदतापूर्वक कैसे वर्तेगा? [—शेष अगले अंक में]

साधक के सच्चे साथी

जिसने भगवान की सर्वज्ञता का निर्णय करके उसे अपने ज्ञान में बिठाया है, उसने स्वोन्मुखता द्वारा मोक्ष की साधना में भगवान को अपनी साथी बनाया है।

अब वह ज्ञान में सर्वज्ञ को साथ ही साथ रखकर मोक्ष को साधेगा। जिस ज्ञान में सर्वज्ञ को बिठाया, उस ज्ञान में राग नहीं रह सकता।

अहा, साधक भाव! पूर्ण साध्य के स्वीकारपूर्वक वर्त रहा है। पूर्ण साध्य का जिसने अंतर में स्वीकार किया, उसने साधक भाव में सर्वज्ञ को अपना साथी बनाया है।

स्वाश्रय के उपदेश रूपी तीक्ष्ण तलवार

इस अति दीर्घ उत्पातमय संसार में जिनेश्वर देव का उपदेश महान भाग्य से मिलता है, वह उपदेश तीक्ष्ण असिधारा के समान है। महाभाग्य से जिनोपदेश प्राप्त करके क्या करना चाहिये ?—तो कहते हैं कि पुरुषार्थ करना चाहिये... भगवान का उपदेश स्वसन्मुख पुरुषार्थ का है। जिसप्रकार शूरवीर पुरुष तीक्ष्ण तलवार द्वारा शत्रु को क्षणमात्र में छेद डालता है, उसीप्रकार भगवान के उपदेशरूपी तीक्ष्ण धारवाली तलवार प्राप्त करके शूरवीर ऐसा मुमुक्षु जीव अंतर्मुख पुरुषार्थ द्वारा मोहादि शत्रुओं को क्षणमात्र में छेद डालता है। भगवान का मार्ग पुरुषार्थ का है, उसमें कायर का काम नहीं है। 'अरे रे, क्या किया जाये ? कर्मों का जोर है !'—ऐसा कहकर खड़ा रहे, उस कायर जीव का भगवान के मार्ग में काम नहीं है। अरे जीव ! भगवान के उपदेश-रूपी तीक्ष्ण तलवार तुझे महान भाग्य से प्राप्त हुई है; अब स्वाश्रय के पुरुषार्थ द्वारा मोह को छेद डाल। अंतर्मुख होकर जहाँ शुद्धोपयोगरूप तलवार का वार किया, वहाँ मोह के टुकड़े हो जाते हैं। 'एक वार और दो टुकड़े !' 'मारे उसकी तलवार' अर्थात् तलवार सामने लटक रही हो, परंतु चलानेवाले के हाथ में शक्ति होना चाहिये। उसीप्रकार भगवान का उपदेश तो मिला, परंतु उसे झेलकर अंतर में स्वाश्रय का पुरुषार्थ करना, वह मुमुक्षु का काम है। जो जीव पुरुषार्थ करता है, उसका मोह अवश्य छिद जाता है। भगवान का उपदेश स्वसन्मुख पुरुषार्थ का है और मोह को छेदने के लिये वह तीक्ष्ण असिधारा समान है। 'हम स्वोन्मुख होकर मोह का नाश करके सर्वज्ञ हुए और तुम भी स्वसन्मुख प्रयत्न द्वारा मोह का नाश करो'—ऐसा उपदेश भगवान ने दिया। ऐसे उपदेशरूपी तीक्ष्ण तलवार पाकर जो जीव अंतर्मुख उपयोग का अति उग्र प्रयत्न करता है, उसी के मोह का छेदन होता है और शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिये संत कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! हे पुरुषार्थवान् आत्मार्थी जीवो ! महाभाग्य से जिन भगवन्तों का ऐसा तीक्ष्ण असिधारा समान स्वाश्रित मार्ग का उपदेश पाकर अब मोह के छेदने के लिये अत्यंत उग्ररूप से अंतर्मुख प्रयत्न करो !

(प्रवचनसार, गाथा ८८ के प्रवचन से)

मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रवचनों से

मोक्षमार्गप्रकाशक में पंडित टोडरमलजी ने अनेक प्रकार से तत्त्वों का विवेचन किया है। पूज्य स्वामीजी को यह ग्रंथ अत्यंत प्रिय है। सम्यक्त्व संबंधी प्रयत्न में जीव कैसी भूल करता है—इत्यादि संबंधी कुछ स्पष्टीकरण गतांक में आया है, विशेष यहाँ देखें!

तथा कोई निश्चयाभासी जीव अशुभ छोड़कर शुभ चिंतन के अनुभव का आनंद मान लेते हैं और ऐसा मानते हैं कि हम तो सिद्धसमान अनुभव के आनंद में मग्न हैं; वे जीव भ्रमणा में हैं और वे भ्रम से मंदराग को शुद्धोपयोग मान रहे हैं। भाई, अनुभव के आनंद की मस्ती कुछ अलग ही होती है; तुझे उसकी गंध भी नहीं है, इसलिये तू राग के अनुभव को ही चैतन्य का आनंद मान बैठा है; वह तो ऐसा हुआ जैसे कोई भिखारी स्वप्न में अपने को राजा मानकर आनंदित हो। मंद कषाय में शुद्धोपयोग मानकर तू निरुद्यमी—प्रमादी हुआ है और शास्त्राभ्यास आदि कार्य भी छोड़ दिये हैं—यह तो तेरा प्रमाद ही है। धर्मात्मा को चैतन्यानंद के अनुभव से सर्वत्र वैराग्य होता है, वही सच्चा वैराग्य है। अज्ञानी तो स्त्री-पुत्र तथा व्यापारादि के प्रति अरति करके वहाँ उदास होते हैं और उसे वे वैराग्य मानते हैं, परंतु वह तो कषायगर्भित वैराग्य है, वह सच्चा वैराग्य नहीं है। चैतन्य के अभ्यास के प्रयत्न में उन्हें क्लेश लगता है। इसलिये निरुद्यमी होकर पड़े हैं और ऐसा मानते हैं कि हम तो शुद्धचिंतन में लगे हैं—वह निश्चयाभासी जीवों की भ्रमणा है। उन निश्चयाभासी जीवों को वेदांती समान जानना चाहिये। वेदांत की और उनकी श्रद्धा में समानता है, इसलिये उन्हें वेदांत का उपदेश इष्ट लगता है और वेदांतवादी को उनकी बात इष्ट प्रतीत होती है। अरे, कहाँ वीतरागी जिनमत और कहाँ वेदांत! प्रत्येक आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है, उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव प्रतिक्षण अपने से स्वतंत्र होते हैं;—ऐसे जिनमत को समझे बिना स्वोन्मुखता नहीं होती और स्वोन्मुखता हुए बिना सुख नहीं होता। जो प्रत्येक आत्मा को स्वतंत्र नहीं मानते, आत्मा की शुद्ध-अशुद्ध पर्याय को नहीं मानते, वे अशुद्धता दूर करके शुद्धता प्रगट करने का उद्यम किसमें करेंगे? इसलिये उनके मत में मोक्षमार्ग की साधना कहाँ रही? भूल को जाने तो उसे मिटाना रहे, परंतु जो भूल को जानेगा ही नहीं, उसे भूल मिटाने का उद्यम करना कहाँ रहा? वेदांत में अद्वैत ब्रह्म-

निर्लेप-परमब्रह्म-अखंड-शुद्ध-एक ऐसे अनेक शब्द आते हैं, इसलिये कई लोगों को ऐसा लगता है कि वेदांत में भी उच्च प्रकार की बात है!! जैनमत में जन्म लेकर भी कुछ जीव ऐसी भ्रमणा का सेवन करते हैं। क्या किया जाये भाई! जैन में और वेदांत में महान अंतर है। जैन का निश्चयनय कहीं वेदांत जैसा नहीं है। परिणति अंतर्मुख होकर निर्मल हुई, तब निश्चयनय हुआ; परंतु जिसने परिणति को ही नहीं माना, उत्पाद-व्यय ही नहीं माना, उसे निश्चयनय की गंध भी कैसी? वह 'अहं ब्रह्मास्मि....' ऐसा भले ही रटे, किंतु वह ब्रह्म में नहीं है—भ्रम में है। प्रत्येक आत्मा को भिन्न-भिन्न आकार हैं, प्रत्येक में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता और द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उनका स्वीकार किये बिना ब्रह्मस्वरूप आत्मा की उपासना नहीं हो सकती। सबको अद्वैत ब्रह्म माने और भिन्न-भिन्न तत्त्वों को स्वीकार न करे, उसे पर से विमुख होकर स्व में एकाग्र होना कहाँ रहा? भाई, केवलज्ञान या आत्मज्ञान के लिये कहीं बाह्य में हाथ बढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती, किंतु यहाँ स्वदेह प्रमाण अपने चैतन्य में एकाग्र होने से केवलज्ञान या आत्मज्ञान होता है। इसप्रकार प्रत्येक आत्मा को अपने में पूर्णता है और ऐसे अनंत भिन्न-भिन्न आत्मा इस जगत में विद्यमान हैं—ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने जिनशासन में कहा है, वहीं यथार्थ वस्तुस्थिति है। वेदांत में यह बात नहीं मिलती।

भाई, सम्यग्दर्शन के लिये अंतर्मुख अभ्यास द्वारा तत्त्वविचार करना चाहिये। तत्त्वनिर्णय में ही जिसकी भूल हो और जो तत्त्वविचार का अंतर उद्यम न करे, उसे आत्मा का सम्यक् अनुभव कहाँ से होगा? सच्चे आत्मार्थी को अंतर की गहराई में उतरकर-तत्त्वविचार के उद्यमपूर्वक यथार्थ तत्त्वनिर्णय करना चाहिये। ऐसे उद्यम द्वारा मोह का नाश होता है।

प्रश्न - तत्त्वविचार का पुरुषार्थ करने को कहते हैं, परंतु हमें कर्म का क्षयोपशम नहीं है, ज्ञान का विकास नहीं है, तो उद्यम कैसे करें?

भाई, तत्त्व का विचार करके हित-अहित का निर्णय किया जा सके, इतना तो क्षयोपशम तो तुझे हुआ ही है; ज्ञान के विकास को तू अन्य प्रयोजनरूप पदार्थों में रोकता है, उसे स्वोन्मुख करके हित के उद्यम में लगा। असंज्ञी जीवों में तत्त्वविचार जितना क्षयोपशमभाव नहीं है, परंतु तुझे तो उतना क्षयोपशम हुआ है; इसलिये तुझे हित के उद्यम का उपदेश देते हैं।

होनहार हो वहाँ उपयोग लगता है; होनहार के बिना उपयोग कैसे लगेगा?

अरे भाई, शरीर के पोषण—खानपानादि में तो तू उद्यमपूर्वक अपना उपयोग लगाता है,

और जहाँ आत्महित में उपयोग लगाने की बात आती है, वहाँ होनहार का बहाना निकालता है, इससे ऐसा ज्ञात होता है कि तुझे शरीरादि के कार्यों की जितनी प्रीति है, उतनी आत्महित के कार्य की नहीं है। शरीर के खान-पानादि कार्यों में तू होनहार मानकर बैठ नहीं रहता, वहाँ तो उद्यमपूर्वक उपयोग लगाकर राग-द्वेष करता है और चैतन्य के चिंतन में होनहार का बहाना बतलाकर उसका उद्यम नहीं करता, इसलिये तुझे आत्मा की रुचि ही नहीं है, राग की रुचि है, तू तो मात्र मानादि के कारण झूठी बातें बनाकर स्वच्छन्द का पोषण करता है। यदि होनहार के साथ केवलज्ञान की सच्ची प्रतीति हो तो कहीं कर्तृत्वबुद्धि न रहे, राग की रुचि न रहे, किंतु ज्ञानभाव का वीतरागी पुरुषार्थ ही रहे। जो राग में तन्मय होकर वर्तता है, पर में कर्तृत्वबुद्धि रखता है और होनहार की बात करता है, वह तो स्वच्छंदी निश्चयाभासी है।

'आत्मा तो अबंध है, उसे बंधन है ही नहीं'—इसप्रकार एकांत मानकर अज्ञानी जीव पर्याय के विवेकरहित स्वच्छंदरूप से वर्तता है; किंतु भाई, तुझे राग द्वेष और कर्म—नोकर्म का संबंध तो वर्तता है, तब फिर पर्याय में अबंधपना कैसे कहा जायेगा? वह पर्याय भी तेरी ही है, ऐसा जान। यदि पर्याय में भी बंधन न हो तो मोक्षमार्ग का उद्यम किसलिये करना चाहिये? पर्याय में बंधन है, ऐसा जाने तभी उसे टालने का उद्यम कर सकता है।

समयसार में भी आत्मा को अबद्धस्पृष्ट कहा है, और ऐसे आत्मा को जाने तो जिनशासन को जाना कहा जाता है—ऐसा भी वहाँ कहा है; तो फिर आप बंधन को जानने की बात किसलिये करते हैं?

समयसार में अबद्धस्पृष्ट कहा है, यह बात तो यथार्थ ही है; परंतु ऐसे अबद्धस्पृष्ट आत्मा को जो जानता है उसे, पर्याय में जितना बंधन तथा कर्म के साथ का संबंध हो, उसका भी विवेक वर्तता है। स्वभाव के अनुभव की ओर जितनी पर्याय ढली, उतनी तो शुद्ध और अबंधरूप हो गई है, किंतु जितना राग रहा, उतना बंधन भी है। कर्म के संबंधवाली पर्याय को भी यदि अबंध जान ले, तब तो ज्ञान ही मिथ्या हुआ। स्वभाव से आत्मा अबंध है, परंतु पर्याय में वह अबंधपना कब प्रगट होता है?—कि जब पर्याय अबंधस्वभाव में अभेद हो तब। अभी पर्याय तो रागादि में ही वर्तती हो और कहे कि मैं अबंध हूँ तो वह जीव भ्रांति में ही है। 'अबंध हूँ'—ऐसा कहने से या विचार करने से कहीं अबंधपना प्रगट नहीं होता किंतु स्वभावोन्मुख होकर अनुभव करते ही पर्याय में क्रमशः अबंधपना प्रगट होता है। इसलिये पर्याय में कितनी अबंधता प्रगट हुई है और कितना बंधन शेष

रहा है—उन दोनों पक्षों को बराबर जानना चाहिये।

बंध-मोक्ष के विचार का हमें क्या प्रयोजन है ? क्योंकि शास्त्रों में तो बंध-मोक्ष के विचार से बंधन कहा है ?

हे भाई, बंध और मोक्ष के स्वरूप को जानना, वह कहीं दोष नहीं है। बंध और मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना तू मोक्ष की साधना कैसे करेगा ? और बंध को कैसे दूर करेगा ? जो जीव बंध-मोक्ष के विकल्प में ही अटका रहता है, परंतु विकल्प से हटकर शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं करता, उसे सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, इसलिये ऐसा कहा है कि बंध-मोक्ष के विचार से जीव बँधता है। अकेली पर्यायबुद्धि में ही बना रहे और एकरूप द्रव्यस्वभाव को न जाने तो उसे मोक्षमार्ग नहीं होता; तथा पर्याय में बंधन और मुक्तिरूप अनेक अवस्थाएँ होती हैं, उन्हें यदि न पहिचाने तो बंधन से छूटने का और मोक्ष प्राप्त करने का उद्यम भी किसलिये करे ? इसलिये द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर मोक्षमार्ग के उद्यम में वर्तना योग्य है। बंध-मोक्ष के विकल्प से बंधन कहा, किंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि बंध-मोक्ष का ज्ञान भी नहीं करना चाहिये। यदि सच्चा ज्ञान भी न करे, तब तो मिथ्या विकल्प कभी दूर ही नहीं हो सकते।

हम तो अकेले निश्चयनय की मुख्यता का ही ग्रहण करेंगे; व्यवहार को या पर्याय के भंग-भेद को जानने का क्या काम है ?

अरे भाई, पर्याय के यथार्थ विवेक बिना निश्चयस्वभाव का यथार्थरूप से ग्रहण हो ही नहीं सकता। जिनशासन में तो निश्चय-स्वभाव के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट करने का उपदेश है; किंतु पर्याय में जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट नहीं करता, राग-द्वेष को टालने का उद्यम नहीं करता और 'शुद्धात्मा-शुद्धात्मा' की रट लगाता है तो उसे मोक्षमार्ग कैसा ? मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के उद्यम से ही प्रगट होता है।

आत्मा का कार्य

(माघ शुक्ला ९, वीर सं० २४८९)

शरीरादि की क्रिया आत्मा नहीं करता; तो फिर आत्मा को क्या करना चाहिये ?

* आत्मा का कार्य आत्मा के अस्तित्व में होता है, जहाँ आत्मा का अस्तित्व न हो, उसमें आत्मा का कार्य नहीं होता। क्या शरीर में आत्मा का अस्तित्व है ?..... नहीं। तो शरीर की क्रिया में आत्मा का कार्य नहीं हो सकता।

* अब आत्मा के अस्तित्व में—आत्मा में अनन्त गुण हैं.... उनके स्वीकारपूर्वक जो निर्मल पर्याय प्रगट हो, वह आत्मा का कार्य है, उसे धर्म कहा जाता है। इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के भावरूप विकार हो, वह सचमुच आत्मा के स्वभाव का कार्य नहीं है।

* जिसे आत्मा का सच्चा कार्य करना हो, उसे स्वानुभव-क्रिया से अनंत गुणस्वभाव को श्रद्धा में लेना चाहिये, ज्ञान में लेना चाहिये; वही आत्मा का सच्चा कार्य है। ऐसा कार्य वह ज्ञान की महिमा है।

* ज्ञान की महिमा यह है कि वह स्वानुभव द्वारा आत्मा को आनंदरूप करता प्रगट होता है। परसत्ता से भिन्न होकर स्वसत्ता में परिणमित हुआ, वहाँ ज्ञान आनंदरूप होकर प्रगट हुआ। ऐसा ज्ञान आत्मा का महिमावान कार्य है। इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया में या राग की क्रिया में महिमा नहीं है।

जहँ चेतन तहँ अनंत गुण,
केवलि भाषे अेम....
प्रगट अनुभव करो आतमा,
निर्मल करी सप्रेम.... रे चैतन्य प्रभु....
प्रभुत्व तुम्हारी चैतन्यधाम में।

—ऐसे चैतन्य के स्वानुभव का कार्य ही महिमावन्त कार्य है, उसी में ज्ञान की महिमा है। ऐसा ज्ञान प्रगट हुआ, वह आनंद सहित है। वह ज्ञान ऐसा धीर, गंभीर और उदार है कि—

अनुकूलता के बर्फ में गलता नहीं... और
प्रतिकूलता की अग्नि में जलता नहीं है...

अनुकूलता में वह ज्ञान अटकता नहीं है... और
प्रतिकूलता में वह ज्ञान डरता नहीं है....

आत्मा को जगत से पृथक् करनेवाला वह ज्ञान, आत्मा को स्वानुभव का आनंद प्राप्त कराता है। परभावों से भेद करने का महान कार्य उसने किया है। ऐसा ज्ञान कार्य महिमावान है, प्रशंसनीय है। धर्मात्मा तो चैतन्य के शांतरस के वेदक हैं, विकार का आस्वादन करनेवाले नहीं हैं... ऐसे शांतरस का आस्वादन, वह ज्ञान का आभूषण है; वह ज्ञान धीर है। ऐसा धीर है कि अनुकूलता या प्रतिकूलता में किंचित् चलायमान नहीं होता; उसने घी को ध्येय के प्रति प्रेरित किया है और बुद्धि को स्वध्येय में लगाया है। वह ज्ञान धीर है, उदार है, उच्च है। पुण्य-पाप की तुच्छता से पार हुआ वह ज्ञान उच्च है। वह ज्ञान आत्मा का अपूर्व सम्यक् कार्य है। ऐसा कार्य, सो धर्म है और वह मोक्ष का पन्थ है।

जैनधर्म के उपदेशक

कैसे होते हैं ?

हित के लिये किसका उपदेश सुनना चाहिये ?

जैनधर्म के वक्ता प्रथम तो जिनमार्ग की श्रद्धा में दृढ़ होते हैं। जिसे जिनमार्ग का निर्णय ही न हो, जिसे श्रद्धा ही न हो, वह जैनमार्ग का रहस्य प्रकाशित नहीं कर सकता। अहो, जैनधर्म वीतरागी प्रयोजनवाला है; उसके वक्ता मोक्षमार्ग की रुचिवान होते हैं; नवतत्त्वादि का कथन जैसा सर्वज्ञ ने किया है, उसमें यथार्थ श्रद्धा धारण करनेवाले होते हैं। जिसे सर्वज्ञ का निर्णय न हो, सर्वज्ञ-कथित तत्त्वों की श्रद्धा न हो, वह जीव जैनधर्म के रहस्य का वक्ता नहीं हो सकता। वीतरागता के अतिरिक्त अन्य तात्पर्य या प्रयोजन जिसके अन्तर में हो, वह वीतरागी जैनधर्म का यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता। राग से जो लाभ मानता हो, वह जीव वीतरागी जैनधर्म का उपदेश कहाँ से देगा ?

अहा, सर्वज्ञ भगवान के वीतरागमार्ग के वक्ता भी कैसे होते हैं—उसकी बहुतों को खबर ही नहीं है, और चाहे जैसे वक्ता के निकट यों ही सुन लेते हैं। जैनधर्म के वक्ता प्रथम तो जिनमार्ग की श्रद्धा में दृढ़ होते हैं, तथा विद्याभ्यास द्वारा शास्त्रों का अर्थ सुलझाने की बुद्धि उनके प्रगट होती है; तथा शास्त्रों में जो निश्चय—व्यवहार आदि की व्याख्या है, उसके अभिप्राय को सम्यग्ज्ञान द्वारा जानते हैं; व्यवहार कथन को ही यथार्थ मानकर उसके आश्रय से लाभ मनाये तो वह शास्त्र के नयार्थ को (नय के अभिप्राय को) नहीं जानता। शास्त्र में अमुक प्रयोजन के हेतु व्यवहार से कहा हो वहाँ कुछ और ही प्रयोजन मान ले। कहीं राग को कम करने का उपदेश हो, वहाँ उस मन्द राग को ही मोक्षमार्गरूप धर्म मान ले, तो उसमें विपरीत प्रवृत्ति की पुष्टि हो जाती है। इसलिये सम्यग्ज्ञान द्वारा सर्व प्रकार के व्यवहार, निश्चय, उपादान, निमित्त आदि को बराबर जानता हो, वही जैनधर्म का वक्ता हो सकता है। तथा उसे जिन आज्ञा भंग का बड़ा भय होता है। भगवान के मार्ग में जो आशय है, उससे किंचित् विरुद्ध—अन्यथा या हीनाधिक न कहा जाये, उसका उसे भय होता है। अपनी स्वच्छंद कल्पना से उपदेश नहीं देता किंतु भगवान के मार्ग की आज्ञानुसार उपदेश देता है। जिनमार्ग की आम्नाय के बिना स्वच्छंदता से चाहे जैसा उपदेश दे तो आगम-विरुद्ध उपदेश दिया जायेगा और उसमें महान दोष आयेगा। जिनमें वीतरागी तात्पर्य की पुष्टि हो, वही शास्त्र पढ़ना-सुनना-लिखना योग्य हैं, किंतु जिनमें वीतरागी तात्पर्य का पोषण न हो और विषय-कषाय की पुष्टि हो—ऐसे शास्त्र हितबुद्धि से पढ़ना-सुनना-लिखना योग्य नहीं हैं।

जो पुरुष भले ही क्षमावंत लगता हो, स्थूलरूप से निर्मानी और सरल दिखायी देता हो, अनेक विद्याएँ—व्याकरण, न्याय, संस्कृत आदि जानता हो, वक्तृत्व-कला से हजारों की सभा को मुग्ध कर देता हो, परंतु यदि वह उत्सूत्रभाषी, जिनमार्ग से विपरीत मार्ग का उपदेश देता हो तो वह छोड़नेयोग्य ही है; क्योंकि वह विपरीत श्रद्धा के विषयुक्त है। जिसप्रकार उत्कृष्ट मणिसहित सर्प भी लोक में विघ्नकर्ता है, उसीप्रकार विपरीत तत्त्व की प्ररूपणा करनेवाला वक्ता भी अहितकारी ही है। विपरीत श्रद्धायुक्त ज्ञातृत्व या व्यवहार आचरण वह किंचित् हितकारी नहीं है। विपरीत मार्ग का पोषण करने जैसा महापाप दूसरा कोई नहीं है।

तथा वक्ता निस्पृह होना चाहिये; उसे उपदेश द्वारा लौकिक कार्य साधनो की इच्छा न हो, मान का कामी न हो, अभिनंदन-पत्र लेने का कामी न हो, तथा फण्ड (चंदा) एकत्रित करने का इच्छुक न हो। लोभी वक्ता लोभवश होकर यथार्थ तत्त्व का उपदेश नहीं दे सकता। मान का अर्थी

जीव मान के हेतु सभा को प्रसन्न करने के लिये विपरीत तत्त्व का उपदेश दे सकता है; जिसे श्रोता से कुछ प्राप्त करने की आशा हो, वह तो श्रोता के आधीन हो जायेगा और अपना मान-लोभ आदि प्रयोजन साधने के लिये तत्त्व से विपरीत प्ररूपणा कर देगा। इसलिये वक्ता को निस्पृह होना चाहिये। तथा उसे क्रोधी या मानी नहीं होना चाहिये। यदि क्रोधी-मानी होगा, तब तो लोक में जैनधर्म की निन्दा होगी कि देखो, यह जैनधर्म के उपदेशक! और श्रोता भी ऐसे उपदेशक से भयभीत बने रहेंगे।

तथा वक्ता ऐसे होते हैं कि—अपने आप नये-नये प्रश्न उठाकर, उनका समाधान करके श्रोताओं को समझाते हैं और मिष्ट वचन द्वारा श्रोता का संदेह दूर करते हैं। तथा जिस संदेह का समाधान अपने से न बन सके तो सरलता से कहते हैं कि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं है, इसलिये मैं विशेष ज्ञानी से पूछकर बतलाऊँगा। परंतु अपनी अनभिज्ञता छिपाने के लिये चाहे जैसा उत्तर नहीं दे देता। स्वयं को न आये तो कहता है कि विशेष ज्ञानी के पास से समाधान प्राप्त करके कहूँगा; अथवा किसी विशेष अवसर पर तुम्हें विशेष ज्ञानी मिलें तो उनसे पूछकर संदेह दूर करना और वह मुझे भी सूचित करना। अभिमानपूर्वक चाहे जैसी प्ररूपणा कर दे तो श्रोता का भी अहित हो और जैनधर्म की निन्दा हो, तथा सन्देह भी दूर न हो। वक्ता चाहे जैसा उपदेश दे दे और शास्त्रानुसार योग्य समाधान न करे तो जैनधर्म की प्रभावना भी कैसे होगी? तथा जैनधर्म के उपदेशक में लोक-निंद्य कार्यों की प्रवृत्ति नहीं होती। लोगों में जिस कार्य की निन्दा हो, राज्य की ओर से दण्ड हो—ऐसी प्रवृत्ति करे और धर्म का उपदेश देने जाये तो धर्म की निन्दा ही होगी और उसके वचन को मानेगा भी कौन? लोग हँसी उड़ायेंगे कि—देखो, यह जैनधर्म के उपदेशक? इसलिये जैनधर्म के उपदेशक की प्रवृत्ति भी लोक में शोभा दे, ऐसी होना चाहिये—वह सब ओर से अच्छा होना चाहिये। तथा वह हीन कुल वाला भी न हो, अंगहीन न हो, स्वरभंग वाला न हो, मिष्टभाषी और प्रभुतायुक्त हो, तथा लोगों में मान्यता प्राप्त हो—ऐसा धर्मात्मा ही जैनधर्म का वक्ता हो सकता है। जो बुद्धिमान हो, शास्त्र का रहस्य जानता हो, लोक मर्यादा का जिसे विवेक हो, जिसकी आशा अस्त हो गई हो—लौकिक प्रयोजन की अपेक्षा न रखता हो, पुण्यवान हो, परिणाम में उपशमवंत हो, प्रश्न होने से पूर्व ही उसका उत्तर जानता हो, प्रश्नों की बौछार आये, तब भी उसे सहन करके समाधान कर सके। प्रश्न आने पर घबरा जाये तो वह निःशंक प्रतिपादन नहीं कर सकता। तथा प्रभुतायुक्त हो और अपनी या परायी निन्दा से रहित हो; लोक में जिसकी निन्दा होती हो, उसे वक्तापना शोभा नहीं देता। तथा वक्ता होकर दूसरे की निन्दा करता रहे तो भी वक्तापना शोभा नहीं

देता। ज्ञान-वैराग्य, विनय आदि अनेक गुणों से संयुक्त हो, जिसके वचन मधुर और स्पष्ट हों—ऐसे धर्मात्मा को सभा में धर्म कथा अथवा अध्यात्मरसमय जैनधर्म का उपदेश करना चाहिये।

तथा यदि वह वक्ता न्याय-व्याकरणादि महान जैन-शास्त्रों के विशेष ज्ञान सहित हो तो विशेष शोभा देता है। जिसे अध्यात्मरस द्वारा अपने स्वरूप का यथार्थ अनुभव न हुआ हो, वह पुरुष जैनधर्म के मर्म को नहीं जानता। जैनधर्म का जो आध्यात्मिक रहस्य है, उसकी उसे खबर नहीं है; इसलिये वह तो मात्र पद्धति द्वारा ही वक्ता होता है। परंतु जैनधर्म तो अध्यात्म रसमय है, उसका रहस्य अनुभव के बिना कैसे प्रगट कर सकता है? इसलिये जो आत्मज्ञानी हो, उसी के सच्चा वक्तृत्व होता है—यह मूल बात है। देशनालब्धि ज्ञानी के उपदेश से ही होती है, अज्ञानी के उपदेश से देशनालब्धि नहीं होती। जिसे आत्मा का भान नहीं है, मोक्षमार्ग की जिसे खबर नहीं है, जिसने स्वयं मोक्षमार्ग का अवलोकन नहीं किया है, वह दूसरे जीवों को मोक्षमार्ग कहाँ से बतला सकेगा? इसलिये अज्ञानी जीव जैनधर्म का यथार्थ वक्ता नहीं हो सकता। आत्मज्ञानसहित ही यथार्थ वक्तृत्व होता है।

देखो, जैनधर्म कैसा है?—कि अध्यात्मरसमय; पुण्य हो, वह जैनधर्म का रहस्य नहीं है; पुण्यपरिणाम तो अन्य धर्मी के भी होता है। जैनधर्म में अध्यात्मरस का-आत्मा के स्वभाव का जैसा वर्णन है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। अध्यात्मरस अर्थात् आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होकर चैतन्य के परम शांतरस का वेदन हो, वह जैनधर्म का रहस्य है। ऐसे रहस्य को आत्मज्ञानी ही जानते हैं और वे ही जैनधर्म के वक्ता हो सकते हैं। आत्मज्ञान के बिना भले ही अनेकों शास्त्र जाने, विद्वत्ता पूर्ण भाषण दे सके और कुछ पुण्यवान भी हो, परंतु उसे यथार्थ वक्तापना नहीं होता, वह मूल वस्तु छोड़कर भूसा कूटता है। 'दोहा पाहुड़' में कहा है कि—

पंडिय पंडिय पंडिय! कण छोडि वि तुस खंडिया।
पय अत्थं तुट्ठोसि परमत्थ ण जाणइ मूढोसि॥

हे पंडित! पंडितों में भी पंडित अर्थात् अनेक शास्त्रों का ज्ञाता पंडित, यदि तू शुद्धात्मा को नहीं जानता, अध्यात्मरस का अनुभव नहीं करता, तो तूने कणों को छोड़कर मात्र भूसे को ही कूटा है; मात्र शब्दों के अर्थ में ही तू सन्तुष्ट है, किंतु अंतरंग में परमार्थ को नहीं जानता, परम चैतन्य पदार्थ का अनुभव नहीं करता तो तू वास्तव में पंडित नहीं है परंतु मूढ़ है। अध्यात्म विद्या के बिना तेरी समस्त विद्या थोथी है। चौदह विद्याओं में भी अध्यात्मविद्या को ही प्रधान कहा है। जिसने आत्मा जाना, उसने सब सर्व शास्त्रों का रहस्य जान लिया। और भले ही ग्यारह अंग जानता हो परंतु

यदि आत्मा को नहीं जाना तो वह अज्ञानी ही है। और जिसने आत्मा को जाना, उसके लिये किन्हीं शास्त्रों की पढ़ाई अनिवार्य नहीं है कि इतने शास्त्र पढ़ना ही चाहिये। शास्त्रों की पढ़ायी के बिना भी सर्व विद्याओं में उत्कृष्ट ऐसी अध्यात्म विद्या उसने पढ़ ली है। ऐसे अध्यात्मरस के रसिक वक्ता हों, उन्हीं को जैनधर्म के रहस्य का वक्ता जानना चाहिये। देखो, आजकल तो जैनधर्म के नाम से जो जिसकी समझ में आये, वह कहकर उपदेशक बन बैठे हैं, परंतु ऐसे वक्ताओं के पास जैनधर्म का सच्चा रहस्य नहीं होता। परीक्षा करके वक्ता को पहिचानना चाहिये। कोई गद्दी पर बैठकर या वेश धारण करके गप्पें मारे और हाँ-जी-हाँ करता रहे तो वह श्रोता सत्-असत् का विवेक नहीं कर सकता। श्रोता की भी सत्-असत् का विवेक करना चाहिये।

केवली भगवान तो इस जगत में सर्वोत्कृष्ट वक्ता हैं और गणधर भगवंत आदि बुद्धि-ऋद्धि के धारक तथा अवधि-मन:पर्ययज्ञान के धारक भी महान वक्ता हैं।—ऐसे विशेष गुणधारी महान वक्ता मिल जायें, तब तो अति उत्तम है, परंतु ऐसे वक्ता न हों तो सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारक ज्ञानी धर्मात्मा-श्रावक के मुँह से शास्त्र श्रवण करना योग्य है। परंतु मात्र पद्धति अनुसार या शास्त्र श्रवण के लोभ से सम्यग्दर्शनादि रहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना उचित नहीं है। अभी स्वयं को आत्मा की प्रतीति न हो और उपदेशक होकर बैठ जाये तो उसकी प्ररूपणा में कहीं न कहीं भूल होती ही है या तो उसे पढ़ने का रस लग जाता है। यहाँ तो नि:शंक कहते हैं कि-श्रद्धारहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र नहीं सुनना चाहिये। जिसने आत्मा का स्वानुभव किया है, ऐसे ज्ञानी-धर्मात्मा के पास से ही महान विनय और भक्तिपूर्वक उपदेश सुनना चाहिये।

जो भगवान के मार्ग में सावधान हों अर्थात् जिन-आज्ञा में सावधान हों, उन जीवों को निर्ग्रंथ गुरुओं के निकट, अथवा तो उन गुरुओं के कहे हुए उपदेश का प्रतिपादन करनेवाले श्रद्धालु धर्मात्मा श्रावक के मुख से ही, धर्म श्रवण करना योग्य है। देखो, कुगुरु-अज्ञानियों का उपदेश सुनने में जो तत्पर है, वह जिनाज्ञा में सावधान नहीं है, उसे अपने हित की परवाह नहीं है। भाई, तुझे अपने हित की परवाह हो तो आत्मज्ञानी धर्मात्मा के उपदेश का ही श्रवण करना योग्य है; क्योंकि धर्मबुद्धिवाले ज्ञानी उपदेशक ही अपना और पर का हित करते हैं। किंतु जो कषाय बुद्धि के द्वारा उपदेश देता है, वह तो स्व-पर दोनों का बुरा करते हैं। इसप्रकार वक्ता का स्वरूप कहा। इसे जानकर सच्चे और झूठे वक्ता का विवेक ही कर्तव्य है। यथार्थ ज्ञानी-धर्मात्मा को पहिचानकर अपने हित के लिये परम भक्ति और विनय-बहुमान से उनका उपदेश सुनना योग्य है।

नित्य शरणस्वरूप निजतत्त्व के आश्रित

ज्ञानी की अशरण भावना

पुराण पुरुषों को नमस्कार हो!

यह लोक त्रिविध ताप से आकुल व्याकुल है; इतना दीन है कि—मृगजल के पीछे दौड़कर अपनी प्यास बुझाना चाहता है। अज्ञान के कारण स्वरूप का विस्मरण हो जाने से भयंकर परिभ्रमण उसे प्राप्त हुआ है। प्रतिसमय अतुल खेद, ज्वरादि रोग, मरणादि भय, वियोगादि दु:खों का वह अनुभव करता है। ऐसे अशरणतामय इस जगत को एक सत्पुरुष ही शरण है; सत्पुरुष की वाणी बिना कोई उस ताप और तृषा को नहीं छेद सकता—ऐसा निश्चय है। इसलिये पुन: पुन: हम उस सत्पुरुष के चरण का ध्यान करते हैं। (श्रीमद् राजचन्द्रजी)

दिव्यध्वनि तीर्थंकर परमात्मा की वाणी है और वह मोक्ष का पंथ बतलानेवाली है। द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता और यथार्थता का स्वरूप समझकर शाश्वत निर्मल गुण-निधान आत्मा में दृष्टि देने से और उसमें लीनता करने से मुक्ति का पंथ प्रगट होता है। सर्व भगवंतों ने इसप्रकार मुक्ति प्राप्त की और ऐसा ही मोक्षमार्ग का उपदेश जगत को दिया। जिसप्रकार भूतकाल में अनंत आत्मा अरिहंत वीतराग होकर मुक्ति को (परमात्मदशा को) प्राप्त हुए, उसीप्रकार भगवान की वाणी में कहे गये स्वाश्रित सम्यक्रत्नत्रयमय मार्ग का जो आश्रय करेगा, वह अवश्य मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जैसा सिद्धपरमात्मा का स्वभाव है, वैसे ही धर्मस्वभाववान आत्मा प्रत्येक शरीर में विद्यमान है। सिद्ध भगवान में और इस आत्मा में परमार्थत: कुछ भी अंतर नहीं है। जितना सामर्थ्य सिद्ध भगवान के आत्मा में है, उतना ही प्रत्येक आत्मा में सदा विद्यमान है। सिद्ध परमात्मा अपने पूर्ण स्वभाव-सामर्थ्य की प्राप्ति करके, उसमें लीनता द्वारा पूर्ण ज्ञान-आनंद प्रगट करके मुक्त हो गये और अज्ञानी जीव अपने नित्य अपार स्वभाव सामर्थ्य को भूलकर रागादिक का आदर तथा वीतरागता का अनादर, परभावों में कर्तृत्व तथा रागादि में ही अपनत्व मानकर संसार में भटकते हैं।

तत्त्वचर्चा

छठवें गुणस्थान में मुनि के निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय एक साथ होते हैं।

(गतांक नंबर २३६ से चालू)

प्रथम दो लेख में श्री धवला तथा मोक्षमार्गप्रकाशक के आधार देकर सिद्ध किया है कि सिद्ध भगवान को निश्चयसम्यग्दर्शन है और जैसा सिद्ध भगवान को सम्यग्दर्शन है, वैसा ही चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को भी होता है। सिद्ध भगवान को व्यवहार सम्यक्त्व नहीं होता, इसलिये चौथे गुणस्थानवर्ती जीव को जो सम्यक्त्व-श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है ही - ऐसा समझना चाहिये।

व्यवहार सम्यक्त्व तो श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है किंतु चारित्रगुण की रागरूप श्रद्धा संबंधी पर्याय है। (देखो, पंचास्तिकाय गाथा १०७ श्री जयसेनाचार्य टीका)

मिथ्यादृष्टि की भूमिका में अकेला व्यवहार सम्यग्दर्शन हो, इस विषय में समयसार गाथा १२ कलश नंबर ६ में कहा है कि 'शुद्धनय से ज्ञायक मात्र एक आकार दिखलाया, उसको सब अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्य के भावों से न्यारा देखना-श्रद्धान करना वह नियम से (निश्चय से) सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, उस जगह व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनय की हद पहुँचते व्यभिचार नहीं रहता, इसलिये नियमरूप है। ×व्यवहारी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) जीव आगम को प्रमाणकर पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे, वही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जब तक व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का केवल श्रद्धान रहता है, तब तक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

समयसार, गाथा १३ के भावार्थ में पंडित जयचन्द्रजी ने कहा है कि—'इन नवतत्त्वों में शुद्धनय से देखा जाये, तब जीव ही एक चैतन्य चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके बिना जुदे-जुदे नव तत्त्व देखे जायें तो कुछ भी नहीं। **जब तक इस तरह जीव तत्त्व को जानता नहीं है तब तक व्यवहार दृष्टि में होकर जुदे-जुदे नव तत्त्वों को मानता है, इसलिये शुद्धनयकर जीव को जानने से ही सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सकती है।** सबको जुदा जुदा जानता है, तब तक आत्मा को नहीं जाना और तब तक पर्यायबुद्धि है।'

इन सबका तात्पर्य यह है कि जो लोग ऐसा मानते हैं कि ४-५-६ गुणस्थान में अकेला

व्यवहार सम्यक्त्व होता है, निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता है, उनकी यह मान्यता १०० टका गलत ही है। यदि उनकी बात सच्ची हो तो ४-५-६ गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं, जो आगम से विरुद्ध हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक दिल्ली से प्रकाशित पृष्ठ ४९० में कहा है कि 'सो यहाँ विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान, सो तो निश्चयसम्यक्त्व है और देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान है, सो व्यवहार सम्यक्त्व है—ऐसे एक ही काल विषैं दोऊ सम्यक्त्व पाइए है।'

पंडितजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक पृष्ठ ५०४ में चतुर्थ गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन स्पष्ट शब्दों में कहा है:—'बहुरि जिस काल किसी जीव के दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम या क्षयतैं आपा-पर का यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान होय, तब जीव सम्यक्ती होय है। **यातैं आपा-पर का श्रद्धान विषैं शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त गर्भित है।** बहुरि जो आपा-पर का यथार्थ श्रद्धान नाहीं है, अर जिनमत विषैं कहे जे देव, गुरु, धर्म तिन ही कूं माने है, अन्यमत विषैं कहे देवादि वा तत्त्वादि तिनको नाहीं मानै है, तो ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त करि सम्यक्ती नाम पावै नाहीं। तातैं स्व-पर भेदविज्ञान को लिये जो तत्त्वार्थश्रद्धान होय, सो सम्यक्त जानना।'

इस विषय में रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पंडितजी ने लिखा है कि—चतुर्थ गुणस्थान से प्रगट होनेवाला [१]**सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन** ही है और व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप निश्चय सम्यक्त्व से अन्य[२] प्रकार होता है। और आत्मा का अनुभव चतुर्थ गुणस्थान से शुरु होता है। वह बात निम्न प्रकार शब्दों में कही है:—

'जीव पदार्थ अनादि काल से मिथ्यादृष्टि है। स्व-पर का यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। फिर जिस काल में कोई जीव के दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम से स्व-पर का यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वश्रद्धान होता है, तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है। इसलिये स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय श्रद्धान गर्भित है।'

---

१. धवला पुस्तक १, पृष्ठ ३९६ निश्चय सम्यक्त्व को यथार्थ श्रद्धा कहा है। इसप्रकार यहाँ श्री टोडरमलजी कहते हैं और यथार्थ श्रद्धावान को निज शुद्धात्मा का अनुभव होना चाहिये।

२. यहाँ निश्चय सम्यक्त्वरहित व्यवहार सम्यक्त्व जिसको है, उसको मिथ्यादृष्टि कहा है, किंतु वह गृहीत मिथ्यादृष्टि नहीं है। नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धान भी व्यवहार सम्यक्त्व है, वह श्रद्धा-गुण की पर्याय नहीं है किंतु चारित्र गुण की श्रद्धा संबंधी मंदकषायरूप पर्याय है, जो बाह्य प्रवृत्तिरूप है।

आंशिक अतीन्द्रिय आनंदमय निर्विकल्प आत्मानुभव, स्वसन्मुख उपयोग हुए बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं, इस बात को पंडितजी रहस्यपूर्ण चिट्ठी में कहते हैं:—

बहुरि यहाँ **प्रश्न**–जो सविकल्प निर्विकल्प विषैं जानने का विशेष नहीं है तो अधिक आनंद कैसे होय है ?

ताका समाधान–सविकल्पदशा विषैं केवल आत्मा को ही जानने में प्रवर्त्या एक तो यह विशेषता है। दूसरी यह विशेषता है जो परिणाम नाना विकल्प विषैं परिणमे था, सो केवल स्वरूप ही सौं तादात्म्यरूप होय प्रवर्त्या। तीजी विशेषता यह है कि इन दोनों विशेषताओं से कोई वचनातीत अपूर्व आनंद होय है जो विषय सेवन विषैं उसके अंश की भी जात नहीं, तातैं उस आनंद को अतीन्द्रिय कहिये।

यहाँ **प्रश्न**–जो ऐसे अनुभव किस गुणस्थान में कहे हैं ?

ताका समाधान–चौथे ही से होय है। परंतु चौथे तो बहुत काल के अंतराल में होय है, और ऊपर के गुण ठाने शीघ्र शीघ्र होय हैं।

बहुरि **प्रश्न**–जो अनुभवतो निर्विकल्प है, तहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थाननि में भेद कहा ?

ताका उत्तर–परिणाम की मग्नता विषैं विशेष है, जैसे दोय पुरुष नाम ले है अर दोही का परिणाम नाम विषैं है तहाँ एक कैं तो मग्नता विशेष है अर एक कै स्तोक है, तैसे जानना।

चौथे गुणस्थान में सिद्ध भगवान जैसा निश्चय सम्यक्त्व रहस्यपूर्ण चिट्ठी में कहा है कि—'बहुरि तुमने प्रत्यक्ष परोक्ष संबंधी प्रश्न लिखे' सो भाईजी! प्रत्यक्ष परोक्ष के तो भेद (सम्यक्त्व में) है नाहीं। चौथे गुणस्थान में सिद्धसमान क्षायक सम्यक्त हो जाय है। तातैं सम्यक्त तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है। वह जीव शुभाशुभ कार्य करता भी रहै, तातैं तुमने जो लिख्या था कि 'निश्चय सम्यक्त प्रत्यक्ष है और व्यवहार सम्यक्त परोक्ष है' सो ऐसा नाहीं है।

इह सब कथन का संक्षेप सार यह है कि बिना निश्चयसम्यक्त्व के केवल व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा वह जीव सम्यक्त्वी नाम को पाता नहीं अर्थात् शास्त्र में जहाँ-जहाँ सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दृष्टि नाम आया हो, वहाँ-वहाँ निश्चयसम्यक्त्व, निश्चयसम्यग्दृष्टि ही समझना। धवला में जो सम्यग्दर्शन का वर्णन है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन ही है – ऐसा समझना।

(देखो श्री पंडित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी)

(क्रमशः)

श्री मुनिराज स्तुति

★

श्री मुनि राजत समतासंग, कायोत्सर्ग समाहित अंग; श्री मुनि
करते नहि कछु कारज तातैं, आलंबित भुज कीन अभंग;
गमन काज कछु हू नहिं तातैं गति तजि छाके निज रसरंग,
श्री मुनि ॥१॥

लोचनतैं लखिबो कछु नाहीं, तातैं नाशा ह्ग अचलंग;
सुनिवे जोग रह्यो कछु नाहीं, तातैं प्राप्त इकंत सुचंग,
श्री मुनि ॥२॥

तँह मध्यान्ह मांहि निज ऊपर, आयो उग्र प्रताप पतंग*;
[१]कैधों ज्ञान पवन बल प्रजुलित, ध्यानानलसों उछलि फुलिंग,
श्री मुनि ॥३॥

चित निराकुल अतुल उठत जँह, परमानन्द-पियूष-तरंग;
'भागचंद' ऐसे श्री गुरुपद, वंदत मिलत स्वपद उतंग,
श्री मुनि ॥४॥

---

*पतंग=सूरज। १. कैंधों=मानों ज्ञानरूपी पवन के बल से जलाई हुई।

मुमुक्षु वीर का जीवन-मंत्र—

शांति द्वारा विजय

ज्ञानमूर्ति आत्मा शांत-अकषाय स्वरूपी है, क्रोध उसके स्वरूप की वस्तु नहीं है, इसलिये क्रोध द्वारा शत्रु पर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह सच्ची विजय नहीं है; किंतु क्षमा द्वारा क्रोध पर प्राप्त की जानेवाली विजय ही सच्ची विजय है। चैतन्य का साधक मोक्षार्थी जीव, चाहे जैसी प्रतिकूलताओं के पर्वत खड़े होने पर भी अपनी साधना से च्युत नहीं होता; वह शांत भाव में निश्चल रहकर क्रोधादि या द्वेष बुद्धि जागृत नहीं होने देता, उसी में उसकी सच्ची विजय है। ऐसे विजयी वीरों से जैन शासन सुशोभित होता है।

भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया... पार्श्वनाथ प्रभु इतने शक्तिमान थे कि चाहते तो क्षणभर में कमठ को चकनाचूर कर देते... किंतु नहीं, चैतन्य के साधक वे संत अपनी साधना में अडिग रहे... उन्हें कमठ के प्रति द्वेषबुद्धि जागृत नहीं हुई... और अंत में क्या हुआ ?—क्या कमठ की विजय हुई ?—नहीं; भगवान जीते।—इसका नाम शांति द्वारा विजय है।

यदि भगवान ने प्रतिकार द्वारा कमठ पर विजय प्राप्त की होती तो उस विजय का ऐसा जगत प्रसिद्ध माहात्म्य न होता कि जैसा माहात्म्य अडोल शांति द्वारा प्राप्त की हुई विजय का है।

(१) एक राजा दूसरे राजा को तलवार द्वारा हराकर विजयी बनता है।

(२) एक मुनि को कोई बाण से छेद डालता है, और सामर्थ्य होने पर भी मुनि उसका प्रतिकार नहीं करते तथा शांतभाव से प्राण त्याग करते हैं।

—दोनों में वीर कौन ?....विजय कौन ?

हमें किसके समान होना अच्छा लगेगा ?

(१) राजा तो क्रोध करके कर्म से बँधा, इसलिये कर्म के निकट उसकी हार हुई।

(२) और मुनि ने शांति द्वारा कर्मों को भस्म कर डाला, इसलिये कर्मों पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली।

भगवान बाहुबलि ने पहले तो शारीरिक बल से चक्रवर्ती पर विजय प्राप्त की... और पश्चात् वैराग्यबल से विजय प्राप्त की; परंतु उन दोनों में वैराग्यबल से प्राप्त की हुई विजय अधिक शक्तिशाली थी; और उस विजय ने ही बाहुबलि को जगत प्रसिद्ध करके संसार को वैराग्य का संदेश

दिया। यदि बाहुबलि ने मात्र शरीरबल से क्रोध से चक्रवर्ती पर विजय प्राप्त करके राज्य किया होता तो उस विजय का इतना मूल्य न होता कि जितना मूल्य वैराग्य द्वारा प्राप्त विजय का हुआ।—तब तो जगत उन्हें मात्र एक राजा के रूप में मानता, भगवान के रूप में नहीं।

इसप्रकार क्रोध द्वारा प्रतिद्वंद्वी को हराकर प्राप्त की जानेवाली विजय सच्ची विजय नहीं है। चैतनय की अडिग साधना के बल से शांति द्वारा प्राप्त की जानेवाली विजय ही सच्ची विजय है। जो यह बात समझ लेता है, वह क्रोध का विजेता बनता है। इसलिये मुमुक्षु वीर का मंत्र है कि:—

'शांति द्वारा विजय'

चाहे जैसी परिस्थिति आने पर भी मैं क्रोधित न होऊँ और अपनी अडिग स्वरूप साधना की शांति से च्युत न होऊँ; अपनी आराधना में (स्वरूप साधना में) मैं अडोल रहूँ, तो फिर किसकी शक्ति है कि विश्व में मुझे हराये! अकषायी शांति द्वारा कषायों तथा कर्मों को जीतकर मैं मोक्ष का विजेता बनूँगा।

यह है मुमुक्षु वीर का जीवन-मंत्र!

गुप्तज्ञान

आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होने से समभावरूप आत्मानंद प्राप्त होता है। उस स्वभाव को भगवान की वाणी ने प्रकाशित किया है। स्वानुभव, वह संसार से पार उतारनेवाला है और स्वानुभवरूप जो मोक्षमार्ग उसका गुप्तज्ञान अनुभवी ज्ञानी संतों ने प्रगट किया है।

—अष्ट प्रवचन से

भगवान श्री ऋषभदेव के पूर्व भव

संबंधी बोधपूर्ण कथा

(गतांक नंबर से चालू)

[गतांक नंबर २३५ में पृष्ठ ४६१ कालम २ तारीख ३-४ में भूल से '६ स्वयं प्रभादेवी (ईशान स्वर्ग में पति-पत्नी) छप गया है उसके स्थान में' '६ स्वयं प्रभदेव ईशन स्वर्ग में' इतना सुधार कर लीजिये।]

स्तोत्रों के द्वारा की हुई पूजा ही जिनकी प्राप्ति का उपाय है, ऐसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र आदि अनेक गुणरूपी जिसकी किरणें प्रकाशमान हो रही हैं और जो भव्य जीवरूपी कमलों के वन को विकसित करनेवाला है, ऐसा वह जिनेन्द्ररूपी सूर्य तुम सब श्रोताओं को पवित्र करें।

जब वह अच्युतेंद्र स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर आने के सन्मुख हुआ, तब उसके शरीर पर पड़ी हुई कल्पवृक्षों की पुष्पमाला कुछ-कुछ मुरझा गई। माला मुरझाने से यद्यपि इंद्र को मालूम हो गया था कि अब मैं स्वर्ग से च्युत—होनेवाला हूँ, तथापि वह कुछ भी दु:खी नहीं हुआ। वास्तव में महापुरुषों का ऐसा ही धैर्य होता है। जब उसकी आयु मात्र छह मास की बाकी रह गई, तब उस पवित्र बुद्धि के धारक अच्युतेंद्र ने अरहंतदेव की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया, सो ठीक ही है, प्राय: पंडितजन आत्मकल्याण के अभिलाषी हुआ ही करते हैं। आयु के अंत समय में उसने अपना चित्त पंच परमेष्ठियों के चरणों में लगाया और बाकी के पुण्य से अधिष्ठित होकर वहाँ की आयु समाप्त की। यद्यपि स्वर्गों के देव सदा सुख के आधीन रहते हैं, महा धैर्यवान और बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक होते हैं, तथापि वे स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं। इसलिये संसार की इस स्थिति को धिक्कार हो।

अच्युतेंद्र स्वर्ग से च्युत होकर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में स्थित पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा और श्रीकांता नाम की रानी के वज्रनाभि नाम का समर्थ पुत्र उत्पन्न हुआ। पहले कहे हुए नकुल, बंदर आदि के जीव जो वरदत्त आदि थे, क्रम से उन्हीं राजा-रानी के विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नाम के पुत्र हुए। मतिवर मंत्री आदि के जीव जो

ग्रैवेयक में अहमिंद्र हुए थे, वे वहाँ से च्युत होकर उन्हीं राजा-रानी के सम्पत्तिशाली पुत्र हुए। वज्रजंघ राजा के समय में जो मतिवर नाम का बुद्धिमान मंत्री था, वह अधोग्रैवेयक से च्युत होकर इसी नगरी में उनके सुबाहु नाम का पुत्र हुआ। दूसरे भी उनके संबंधी सब पूर्व भव के संस्कार से एक जगह इकट्ठे हुए। केशव श्रीमती का जीव जो अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह भी वहाँ से च्युत होकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक के उसकी स्त्री अनंतमती से धनदेव नाम का पुत्र हुआ।

वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्था में अतिशय दैदीपयमान हो उठा था। धर्मात्मा वज्रनाभि ने शास्त्ररूपी सम्पत्ति का अच्छी तरह से अभ्यास किया था, इसलिये कामेश्वर का प्रकोप बढ़ानेवाले यौवन के प्रारम्भ समय में भी उसे कोई मद उत्पन्न नहीं हुआ था। बाद में उसकी योग्यता जानकर वज्रसेन महाराज ने अपनी संपूर्ण राज लक्ष्मी इसे ही सौंप दी। राजा ने खुद ही इसका राज्याभिषेक ठाट-बाट से कराया।

लौकांतिक देवों ने आकर महाराज वज्रसेन को समझाया, जिससे जागृत होकर उन्होंने दीक्षा धारण करने में अपनी बुद्धि लगाई। एक हजार अन्य राजाओं के साथ वज्रसेन राजा ने मुनि दीक्षा ले ली। इधर पुत्र वज्रनाभि अपने राज्याश्रम में स्थित था। और उधर पिता भगवान वज्रसेन अंतिम मुनि आश्रम में स्थित थे। वज्रनाभि की आयुधशाली में दैदीप्यमान चक्ररत्न प्रगट हुआ था और मुनिराज वज्रसेन के मनगृह में प्रकाशमान ध्यानरूपी चक्र प्रगट हुआ था। इसप्रकार वे दोनों ही पिता-पुत्र परस्पर में स्पर्धा करते हुये से जान पड़ते थे। किंतु एक की विजय अत्यंत अल्प थी (माने सच्ची विजय नहीं थी) और दूसरे की विजय संसार भर को पार करनेवाली थी-महान थी।

धनदेव (जो श्रीमती का जीव था) भी उस वज्रनाभि चक्रवर्ती के रत्नों में शामिल होनेवाला राज्य का अंगभूत गृहपति नाम का तेजस्वी रत्न हुआ। इसप्रकार वज्रनाथ चक्रवर्ती ने चिरकाल तक पृथ्वी का उपभोग कर किसी दिन अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर से अत्यंत दुर्लभ रत्नत्रय का स्वरूप जाना। जो चतुर पुरुष रसायन के समान सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र इन तीनों का सेवन करता है, वह अचिंत्य और अविनाशी मोक्षरूपी पद को प्राप्त होता है। दिल में ऐसा विचारकर उस चक्रवर्ती ने अपने संपूर्ण साम्राज्य को जीण तृण समान माना और तप धारण करने में बुद्धि लगाई। उसने वज्रदंत नाम के अपने पुत्र के लिए राज्य समर्पण कर दिया। और १६ हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाईयों और धनदेव के (गृहपति रत्न) साथ मोक्ष प्रापित के उद्देश्य से पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समीप भव्य जीवों के द्वारा आदर करने योग्य जिनदीक्षा धारण की। जन्म-

मरणों के दु:खों से दु:खी अनेक राजा तप करने के लिये उसके साथ वन को गये थे, सो ठीक ही है, शीत से पीड़ित हुआ कौन बुद्धिमान धूप का सेवन नहीं करेगा! महाराज वज्रनाभि ने दीक्षित होकर जीवन पर्यंत के लिये मन-वचन और काय से अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों महाव्रत धारण किये थे। पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठ प्रवचन मातृकाएँ कहलाती हैं। प्रत्येक मुनि को इनका पालन अवश्य ही करना चाहिये, ऐसा गणधरदेव ने कहा है। बाद में सम्यग्दर्शन आदि से युक्त वह चक्रवर्ती मुनिराज एकांकी विहार करने लगे। आत्मा के स्वरूप का चिंतवन करनेवाले धीर-वीर मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के निकट उन सोलह भावनाओं का चिंतवन किया जो कि तीर्थंकर पद प्राप्त होने में कारण है। उसने शंकादि रहित (१) शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया (२) विनय धारण की (३) शील और व्रतों के अतिचार दूर किये। निरंतर ज्ञानमय उपयोग किया, संसार से भय प्राप्त किया, ज्ञान और संयम के साधन में, वैयावृत्य में, अरहंत आचार्य और साधु की भक्ति में और शास्त्र भक्ति उसने अपना चित्त लगाया।

षट् आवश्यक और जैनधर्म की प्रभावना करने लगे और धर्मात्मा जीवों पर अधिक प्रेम रखने लगे। इन भावनाओं का उत्तम रीति से चिंतन करते हुए उन श्रेष्ठ मुनिराज ने तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बंध किया। विशुद्ध भावनाओं को धारण करनेवाले वज्रनाभि मुनिराज जब अपने विशुद्ध परिणामों से उत्तरोत्तर विशुद्ध हो रहे थे, तब वे उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुये। और क्रम से उपशांत मोह नामक ११वें गुणस्थान को प्राप्त हुये। वहाँ उनको उपशांत चारित्र प्राप्त हुआ। अंतर्मुहूर्त के बाद फिर वे सप्तम गुणस्थान में स्थित हो गये। बाद में मुनिमार्ग से च्युत न होने के लिये और कर्मों को निर्जरा हेतु बाईस परिषह सहन किये। दशधर्म धारण किये और अनित्य आदि बारह भावनाओं का चिंतवन किया। वे द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरूढ़ हुए। और अंत में उपशांत मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में प्राण छोड़कर सर्वार्थसिद्धि पहुँचे और वहाँ अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए।

प्रशंसनीय वैक्रियिकशरीर को धारण करनेवाला वह अहमिन्द्र जिनेन्द्रदेव की अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ अपने ही क्षेत्र में विहार करता था। और इच्छामात्र से प्राप्त हुए मनोहर गंध अक्षत आदि से विधिपूर्वक पुण्य का बंध करनेवाली श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करता था। वह अहमिन्द्र पुण्यात्मा जीवों में सबसे प्रधान था, इसलिये उसी सर्वार्थसिद्धि विमान में स्थित रहकर ही समस्त लोक में मध्य में वर्तमान जिनप्रतिमाओं की पूजा करता था। उन्होंने वचनों की

प्रवृत्ति जिनप्रतिमाओं के स्तवन करने में, मन उनके गुण चिंतवन में और काया उन्हें नमस्कार करने में लगाई थी।

धर्म गोष्ठियों में बिना बुलाये सम्मिलित होनेवाले, अपने ही समान ऋद्धियों को धारण करनेवाले और शुभभाव से युक्त अन्य अहमिन्द्रों के साथ—संभाषण (चर्चा) करने में उसे बड़ा आदर होता था। इसप्रकार वह अहमिन्द्र ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त हुआ जो इन्द्रादि देवों को भी दुर्लभ था। वज्रनाभि के आठों भाई तथा विशाल बुद्धि का धारक धनदेव ये नौ जीव भी अपने पुण्य के प्रभाव से उसी सर्वार्थसिद्धि में वज्रनाभि के समान ही अहमिन्द्र हुए। और वहाँ देवी आदि न होने पर भी देवों से अधिक सुख भोगने लगे। क्रमशः

सम्यग्दर्शन

मोक्षार्थी को सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन आवश्यक है; सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में एक डग भी नहीं रखा जा सकता। सम्यग्दर्शन के बिना सब नीरस है, निःसार है; इसलिये सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता जानकर उसका प्रयत्न मुमुक्षु का कर्तव्य है। —अष्ट प्रवचन से

सुनहरे सुवाक्य

यहाँ जो सुनहरे सुवाक्य दिये जा रहे हैं, वे सोनगढ़ में जिनमंदिर, स्वाध्याय भवन प्रवचन-मंडप आदि विभिन्न स्थानों पर लिखे हैं। जहाँ जो वाक्य लिखा है, उस स्थान का नाम भी अंत में दिया है।

(१)....अकेला निरपेक्षतत्त्व ही लक्ष में लिया जाये तो स्वपर्याय प्रगट होती है। (जैन स्वाध्यामंदिर)

(२) छेदन करो जीव बंध का तुम नियत निज-निज चिन्ह से।
प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाये हैं॥ (समयसार गाथा)

(३) हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक अंतर्मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर... (प्रवचन मंडप)

(४) जिन समुरो जिन चिंतवो, जिन ध्याओ मन शुद्ध, वह ध्याते क्षण एक में, लहो परमपद शुद्ध। (मनफूला-स्वाध्याय भवन)

(५) हे शिवपुरी के पथिक!... शिवपुरी का पंथ जिन भगवन्तों ने प्रयत्न साध्य कहा है। (प्रवचन मंडप)

(६) निधि प्राप्त कर जन कोई निज वतने रही फल भोगवे,
त्यम ज्ञानी परजन संग छोडी ज्ञाननिधि ने भोगवे। (स्वाध्याय भवन)

(७) 'अहो! यह अपराजित तीर्थंकर और मैं पूर्वभव में अपराजित विमान में साथ ही थे...' (जिनमंदिर)

(८) जैनधर्म को काल की मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता। (स्वाध्यायमंदिर)

(९) ते धन्याः सुकृतार्थः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः॥ (मानस्तम्भ)

(१०) ....किसी सत् उपदेश के प्रसंग पर हुई परम आत्मिक भावना को, किसी पुरुषार्थ के

धन्य प्रसंग पर जागृत पवित्र अंतर भावना को स्मरण में रखना, निरंतर स्मरण में रखना, भूलना मत। (प्रवचन मंडप)

(११) अब आगे की अनंत कालावलि आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे! (स्वाध्यायमंदिर)

(१२) ....देव उपकारवशता के कारण मेघकुमार को विमान में बिठाकर ढाई द्वीप की यात्रा कराता है। (जिनमंदिर)

(१३) सिद्धवर कूट की यात्रा के अवसर पर कहीं भक्तों के साथ तीर्थ की महिमा संबंधी चर्चा-वार्तालाप करते हैं। (जिनमंदिर)

(१४) जो भी सिद्ध हुए हैं, वे भेद विज्ञान से सिद्ध हुए है। (स्वाध्यायमंदिर)

(१५) ....उज्ज्वल आत्माओं का स्वत: वेग वैराग्य में कूद पड़ना है। (स्वाध्यायमंदिर)

(१६) संयम सुधा सागर को आत्मभावना से पूजता हूँ। वचनामृत वीतराग के परम शांतरसमूल, औषध जो भव-रोग के कायर कोप्रतिकूल। (राजचंद्रजी)

(१७) ऋषभदेव और श्रेयांसकुमार के जीव... जो चरण मुनियों को आते देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं और उनके उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं... प्रीतिंकर मुनिराज पूर्वभव के स्नेह के कारण उन्हें सम्यक्त्व प्राप्त कराने की भावना होने से यहाँ आये हैं। (जिनमंदिर)

(१८) अरहंत सो कर्मां तणो करी नाश अे ज विधि बंडे,
उपदेश पण अेम ज करो, निवृत थया नमुं तेमने। (प्रवचनमंडप)

(१९) ....इस जगत् प्रसिद्ध सत्य को हे भव्य! तू जान। (स्वाध्यायमंदिर)

(२०) विदेहक्षेत्र में देव और मनुष्य श्री सीमंधर भगवान का तपकल्याणक महोत्सव मनाते हैं... वहाँ से घूमते-फिरते नारद अयोध्याय की ओर आते हैं... परम हर्ष से कहते हैं कि-हे राजन्! विदेहक्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी में मैंने सीमंधरस्वामी का तपकल्याणक प्रत्यक्ष देखा है। (जिनमंदिर)

(२१) जीव को मुख्य में मुख्य और अवश्य में अवश्य ऐसा निश्चय रखना चाहिये कि-जो कुछ मुझे करना है, वह आत्मा को कल्याणरूप हो, वही करना है। (गोगीदेवी आश्रम की स्वाध्यायशाला)

(२२) वत्थुसहावो धम्मो–वस्तुस्वभाव वह धर्म है। (स्वाध्यायमंदिर)

(२३) णमो अरिहंताणं णमो सिद्धांण णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोह सव्वसाहूणं। (मानस्तंभ)

(२४) आनंद में सुस्थित अचल जिसकी ज्योति है, ऐसे यह आत्मा सदा उदयमान हो। (स्वाध्यायमंदिर)

(२५) उत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतः तस्य सिद्धस्य जातम्। (मानस्तंभ और स्वाध्यायशाला)

(२६) भवावर्त में पहले कभी नहीं भायी हुई भावना अब भाओ! (स्वाध्यायमंदिर)

(२७) त्रैकालिक जगदोद्धारक तीर्थंकर भगवंतों को परमोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार। (प्रवचनमंडप)

(२८) पात्र थवा सेवो सदा ब्रह्मचर्य मतिमान। (स्वाध्यायमंदिर व स्वाध्यायशाला)

(२९) ....तत्काल दोनों मुनियों को केवलज्ञान होता है; आनंदित राम–लक्षण–सीता दोनों केवली भगवंतों की पूजा करके दिव्यध्वनि का श्रवण करते हैं.... (जिनमंदिर)

(३०) सातों मुनिवर सगे भाई हैं, साथ ही दीक्षित हुए हैं और श्रुतकवेली हैं।

(३१) दंसणमूलो धम्मो। (मानस्तंभ, स्वाध्यायमंदिर, स्वाध्यायशाला, स्वाध्यायभवन)

(३२) ....उदाहरण के रूप में आठ आचार्यादिक बतलाये हैं। (जिनमंदिर)

(३३) विचारदशा का मुख्यसाधन सत्पुरुष के वचनों का यथार्थ ग्रहण है। (स्वाध्यायमंदिर)

(३४) निजज्ञान की कला के बल से इस पद का अभ्यास करने का जगत सतत प्रयत्न करो! (प्रवचनमंडप)

(३५) दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि। (स्वाध्यायमंदिर तथा स्वाध्यायभवन)

(३६) यह जीव कैसे ग्रहण हो? जीव का ग्रहण प्रज्ञाहि से।
ज्यों अलग प्रज्ञा से किया त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से॥ (स्वाध्यायमंदिर)

(३७) "....वे मुनि तीन बार क्यों आये? तथा उनके प्रति पुत्रवत् प्रेम क्यों उमड़ रहा है?' (जिनमंदिर)

(३८) श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भावप्राभृत में कहा है कि—शिवकुमार नामक भावश्रमण

जो कि युवती कर वेष्टित होने पर भी विशुद्धमति और धीर थे, वे संसार से मुक्त हुए। (जिनमंदिर)

(३९) वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावे विश्राम,
रस स्वादत् सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम॥ (स्वाध्यायमंदिर)

(४०) सुख की सहेली है अकेली उदासीनता।
अध्यात्म की जननी वह उदासीनता॥ (स्वाध्यायभवन)

(४१) श्री सीमंधर भगवान के समवसरण में... चक्रवर्ती आश्चर्य से पूछते हैं। (मानस्तंभ)

(४२) वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पते।
वोच्छामि समयपाहुड मिणमो सुयकेवली भणियं। (मानस्तंभ)

(४३) समयसार से उच्च वास्तव में अन्य कोई नहीं है। (स्वाध्यायमंदिर)

(४४) गुरुचरणों के समर्चन से उत्पन्न हुई निज महिमा को जानता हुआ कौन विद्वान 'यह पर द्रव्य मेरा है'—ऐसा कहेगा? (स्वाध्यायभवन)

(४५) मुनि भगवंतों की वंदना श्री कानजी स्वामी अत्यंत भक्तिभाव से कर रहे हैं और उनके रचे हुए चार अनुयोगमय आगमों की अत्यंत अर्पणतापूर्वक स्वाध्याय करते हैं। (जिनमंदिर)

(४६) हे मात...! जिस समय समवसरण में तू भगवान अरिहंत के मुख से दिव्यध्वनि के रूप में प्रगट हुई थी, उस समय तेरी ध्वनि समुद्र के समान धीर तथा गंभीर थी... और तुझे सुनकर समस्त जीव आश्चर्य करते थे। (स्वाध्यायभवन)

(४७) निर्विकल्प ध्यान की प्रसिद्धि के हेतु अपने चित्त को स्थिर करना चाहता हो तो हे भव्य! इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में मोही न हो, रागी न हो, द्वेषी न हो। (स्वाध्यायभवन)

(४८) मिथ्यात्व आदिक भावों को चिरकाल भाया जीव ने,
सम्यक्त्व आदिक भाव रे! पहले कभी भाये नहीं। (स्वध्यायशाला)

(४९) देवपूजा गुरोपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥७॥ (स्वाध्यायशाला)

(५०) रत्नत्रय के साधक संत, हमारे आँगन में पधारो!..... (आत्मधर्म कार्यालय)

धन्य हैं वे शुद्धोपयोगी संत

[प्रवचनसार, गाथा १४ के प्रवचनों से]

(फाल्गुन कृष्णा ६)

* शुद्धोपयोग का फल परम अतीन्द्रिय सुख और केवलज्ञान है। वह प्रशंसनीय है।
* वह शुद्धोपयोग किसे होता है ?—कि जिसे प्रथम तो भेदज्ञान द्वारा स्वद्रव्य और परद्रव्य को भिन्न जाना है; तदुपरांत मध्यस्थभावरूप होकर निजस्वरूप में स्थिर हुए हैं—ऐसे समभावी श्रमण को शुद्धोपयोग होता है।
* अहो, शुद्धोपयोग में वीतरागता है, उस वीतरागता में जरा भी विषमता नहीं है।
* जहाँ स्व-पर का भेदज्ञान न हो, वहाँ विषमता होती है, वहाँ वीतरागी समभाव नहीं होता।
* प्रथम यदि यथावत् वस्तुस्वरूप श्रद्धा-ज्ञान में न आये तो उसके सम्यक् आचरण का विधान कहाँ से होगा ?
* पहली बात यह है कि—भावश्रुत द्वारा जिसने शास्त्र का रहस्य ऐसा जाना है कि—स्वद्रव्य और परद्रव्य अत्यंत भिन्न है; प्रत्येक द्रव्य निज परिणाम में तन्मयरूप से परिणमित होता है, अन्य द्रव्य के साथ किंचित् संबंध नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता।
* भाई, शास्त्र में से यदि ऐसा रहस्य तू निकाले, तभी तू शास्त्र के रहस्य को समझा है। यदि ऐसा रहस्य न समझे तो तुझे शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है।
* यहाँ तो शास्त्र के अर्थज्ञान के बल पर जिसने भेदज्ञान किया है, जिसने सम्यग्दर्शन किया है और तदुपरांत जिसने निजस्वरूप में लीनता प्रगट की है—ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि की बात है। सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान तो गृहस्थदशा में भी होता है, किंतु तदुपरांत आगे बढ़कर मुनिदशा और शुद्धोपयोग की यह बात है।
* आत्मा परद्रव्य का कुछ कर सकता है—यह बात तो भेदज्ञान हुआ वहीं छूट गई; किंतु अभी असंयमभाव होने से हिंसादि की वृत्ति होती है; परंतु तत्पश्चात् स्वरूप में स्थिर होने पर छह जीवनिकाय का घात करने के विकल्प भी रुक गये हैं, तथा पाँच इन्द्रियों संबंधी अभिलाषा भी छूट गई है, इसप्रकार आत्मा को संयमभाव में स्थिर किया है, शुद्धस्वरूप में

ही सम्यक्रूप से आत्मा का संयमन किया है—ऐसे जीव को सुखदु:ख जनित विषमता का अभाव है और उसी को परम साम्यभावरूप शुद्धोपयोग होता है।

* उन शुद्धोपयोगी मुनिराज को स्वरूप विश्रांत निस्तरंग चैतन्य का प्रतपन होने से वे तपसहित हैं। अहा, तप किसे कहना चाहिये, उसकी भी अज्ञानियों को तो खबर नहीं है। शुद्ध स्वरूप क्या है और उसमें एकाग्रतारूप तप क्या है—उसकी प्रतीति तो पहले से थी और प्रतीति के अनुसार उसका अमल करके निजस्वरूप में स्थिर हुए और संयम-तपरूप दैदीप्यमान दशा प्रगट करके, चैतन्य को सुशोभित किया है; आत्मा को वीतरागभाव से जगमग किया है—ऐसे प्रतापवंत आत्मा को शुद्धोपयोग होता है।
* सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ गुणस्थान में कभी-कभी (निर्विकल्प अनुभूति के समय) शुद्धोपयोग होता है और परम अतीन्द्रिय आनंद का आह्लाद अनुभव में आता है। किंतु वह कभी-कभी होने से उस की बात गौण है; मुनि की बात मुख्य है। मुनियों को बारंबार स्वरूप में लीनता से ऐसा शुद्धोपयोग होता है।
* परद्रव्य का तो अस्तित्व ही भिन्न है; इसलिये उसकी तो बात ही क्या? शास्त्रों का अर्थ जाना, वहीं परद्रव्य को तो अत्यंत भिन्न ही जान लिया है। निजस्वरूप चैतन्यमय है, वह पर से भिन्न है; ऐसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान किये, वहाँ निजस्वरूप में ही स्थिर होना रहा।
* अहो, यह संतों की वाणी है। संतों की वाणी के सम्यक्-अर्थ को भी जो नहीं समझता, उसके चारित्र कैसा? और मुनिदशा कैसी? वस्तु का स्वरूप, तेरा ज्ञान और शास्त्र का कथन—इन तीनों का मेल मिलाना चाहिये—तभी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान है।
* देखो, जिसे ऐसा सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक शुद्धोपयोग हो, उसी को मुनिपना होता है। फिर भले ही छट्ठे गुणस्थान में आयें और शुभोपयोग हो, परंतु वह छठवाँ गुणस्थान भी उसी को आता है, जिसने प्रथम शुद्धोपयोग द्वारा मुनिदशा प्रगट की हो।
* **कोई कहे कि-वर्तमान में ऐसा शुद्धोपयोग नहीं है;—इसप्रकार शुद्धोपयोग के अस्तित्व का अस्वीकार करना, वह मुनिदशा का ही अस्वीकार करने के बराबर है। यदि शुद्धोपयोग नहीं है तो मुनिदशा ही नहीं है।**
* वर्तमान में भले ही ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि दिखायी नहीं देते, परंतु उससे मुनिदशा का जो स्वरूप है, वह अन्यथा नहीं हो जाता। जिस किसी जीव को मुनिपना प्रगट हो, उसे

शुद्धोपयोगपूर्वक ही मुनिदशा होती है। जो शुद्धोपयोग के अस्तित्व का अस्वीकार करता है, वह मुनिदशा का ही अस्वीकार करता है। अरे, सम्यक्-दर्शन भी प्रथम शुद्धोपयोग सहित ही प्रगट होता है।

* अहो, शुद्धोपयोग तो अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्रोत है। उस अतीन्द्रियरस में निमग्न मुनि मोह के विपाक से अत्यंतरूप से भेद की भावनारूप परिणमित हुए हैं, अर्थात् उत्कृष्ट भावना द्वारा निर्विकल्प आत्मस्वरूप को प्रगट करके 'वीतराग' हुए हैं।
* अहा, देखो तो यह धर्मात्मा की दशा!! ऐसे शुद्धोपयोगधर्मरूप परिणमित मुनिवर चैतन्य की परम अतीन्द्रिय कला का अवलोकन करते हैं, इसलिये साता-असाता जनित बाह्य सुख-दु:ख में उन्हें परिणाम की विषमता नहीं होती, कहीं इष्ट-अनिष्ट वृत्ति नहीं होती; सर्वत्र समसुख दु:ख, हैं—ऐसे श्रमणों को शुद्धोपयोग हैं।
* ऐसे शुद्धोपयोग द्वारा तत्काल ही आत्मस्वभाव की उपलब्धि होती है। अहो, ऐसा शुद्धोपयोग और उसके प्रसाद से तत्काल होनेवाली आत्मस्वरूप की प्राप्ति प्रशंसनीय है।

★

सुवर्णपुरी समाचार

सोनगढ़ तारीख ४-२-६५ परमोपकारी पूज्य श्री कानजीस्वामी सुख-शांति से विराजमान हैं। प्रवचन में प्रात: श्रीमद् योगीन्द्रदेव-विरचित परमात्मप्रकाश चल रहा है तथा दोपहर में समयसारजी शास्त्र में से ४७ शक्ति के प्रवचन समाप्त होकर तारीख ३-२-६५ से उपाय-उपेय अधिकार पर प्रवचन चलते हैं। क्रमरूप पर्याय और अक्रमरूप अनंतगुण (शक्तियाँ) के समूहरूप आत्मा की ४७ शक्तियों पर पूज्य स्वामीजी के परम अद्‌भुत आत्मवैभव का साक्षात्कार करानेवाले प्रवचन ४२ दिन में किये, उस धन्य अवसर पर जो अपूर्व तत्त्व महिमा और आत्मजागृति का वर्णन होता था, सब प्रवचन टेपरील रेकोर्डिंग में भर लिया गया है।

विहार के बाद तारीख ४-३-६५ फाल्गुन सुदी १ के दिन सोनगढ़ वापिस पधारेंगे। तब फागण सुदी २ को सोनगढ़ में जिनमंदिर की २५ वीं वर्षगांठ का उत्सव मनाया जायेगा और उसी दिन श्री समयसार कलश टीका पर प्रवचन शुरु होंगे।

पूज्य स्वामीजी का मंगल विहार का कार्यक्रम

नोट—पूज्य स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक न होने से भोपाल, इंदौर का कार्यक्रम केंसिल हो गया है।

श्री मक्षी पार्श्वनाथ	तारीख १८-२-६५
उज्जैन	तारीख १९ से २२ यहाँ वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव होगा।
भोपाल	तारीख २३-२-६५
मल्हारगढ़	तारीख २५-२५ यहाँ दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर का उद्घाटन और पूज्य स्वामीजी का प्रवचन सुनने के लिये बड़ा मेला होगा, जो समाज भूषण शेठ भगवानदास शोभालाल सागर निवासी करा रहे हैं।
मुंगावली	तारीख २६,
शिहोर	तारीख २७,
देवास	तारीख २८
वाघ	तारीख १-३-६५,
गोधरा	तारीख २,
अहमदाबाद	तारीख ३
सोनगढ़	तारीख ४-३-६५ फाल्गुन सुदी १।

जानो पुद्गल न्यारा रे भाई०

क्षीर नीर जड़ चेतन जानौ धातु पाषाण विचारा रे ॥भाई० ॥

जीव एक करम को एक जानना भाख्यो श्री गणधारा रे
इस संसार दुख सागर में तेहि बधावनहारा रे ॥भाई० ॥

ग्यारह अंग पढै सब पूरब भेदज्ञान न चितारा रे।
कहा भयो सु नटा की नाई रामरूप न निहारा रे ॥भाई० ॥

भवि उपदेश मुक्ति पहुँचाये आप रहे संसारा रे।
ज्यों *मल्लाह पर पार उतारे आप वारिका वारा रे ॥भाई० ॥

जिनके वचन ज्ञान परगासै हिरदै मोह अपारा रे।
ज्यो मशालची और दिखावे आप जात अंधियारा रे ॥भाई० ॥

बात सुनै पातिगमल नाशै अपना मैल न झारा रे।
वांदी पर पद मलि मलि धोवै अपनी सुध न संभारारे ॥भाई० ॥

ताको कहा इलाज कीजिये बूड़ा अंबुध धारा रे।
जाप जप्यो बहु ताप तप्यो पै कारज एक न सारा रे ॥भाई० ॥

तेरे घट अंतर चिन्मूरति चेतन पद उजियारा रे।
ताहि लखे तासों बनि आवै 'द्यानत' लहि भव पारा रे ॥भाई० ॥

*मल्लाह=नाविक

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१-५०
प्रवचनसार	प्रेस में	जैन बाल पोथी	०-२५
नियमसार	५-५०	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
पंचास्तिकाय	४-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
आत्मप्रसिद्धि	४-०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
भाग-२ ०-६० भाग-३	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
योगसार-निमित्त उपादान दोहा	०-१२	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०-७५	जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६-०		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।